पुस्तक परिचय

गूँगी रुलाई का कोरस : रणेन्द्र

(ताजा उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' : राजकमल पेपरबैक्स, 2021
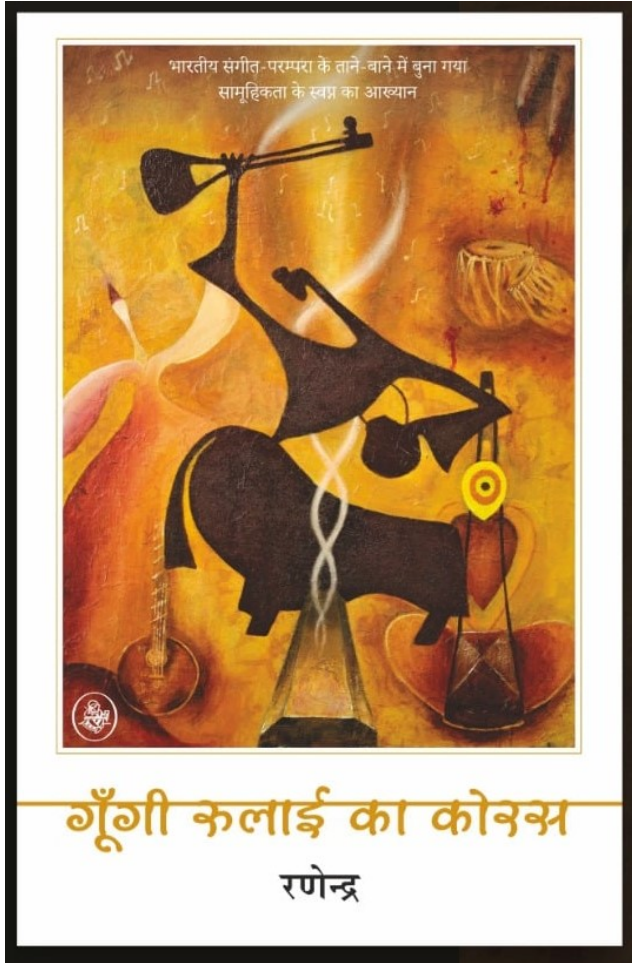
तीन प्रसिद्ध औपन्यासिक कृति के प्रणेता हैं रणेंद्र-

(1) ग्लोबल गांव का देवता

(2) गायब होता देश

(3) गूंगी रुलाई का कोरस

अन्य चर्चित कृतियां हैं –

रात बाकी एवं अन्य कहानियां - (कहानी-संग्रह)

छप्पन छुरी बहत्तर पेंच - (कहानी-संग्रह)

थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूं - (कविता-संग्रह) ।

रणेंद्र ने 'झारखंड एनसाइक्लोपीडिया' और 'पंचायती राज : हाशिए से हुकूमत तक' का संपादन भी किया है। आईएएस अधिकारी रहे रणेंद्र अभी डा. रामदयाल मुंडा जनजातीय शोध संस्थान, (TRI) झारखंड सरकार के निदेशक हैं। झारखंड में प्रशासनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण केंद्र- श्रीकृष्ण लोक प्रशिक्षण संस्थान (ATI) को उन्होंने जीवंत रखा। प्रशासनिक दायित्व निभाते हुए साहित्य की दुनिया में राष्ट्रीय पहचान बनाई। रणेंद्र का ताजा उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' चर्चा में है।

1. गूंगी रुलाई का कोरस : रणेन्द्र का उपन्यास ....

मीडिया और सोशल मीडिया : टिप्पणियां, समीक्षा, वीडियो लिंक

प्रगतिशील लेखक संघ, उ.प्र. - अपने विशिष्ट औपन्यासिक लेखन के लिए ख्यात रणेंद्र हमारे समय के प्रतिनिधि लेखक बन चुके हैं। 'ग्लोबल गांव के देवता', 'गायब होता देश' के बाद अभी उनका नया उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' आया है। खुद इसके बारे में रणेंद्र लिखते हैं : 'रूह से रूह तक उतरने वाली हिंदुस्तानी मौसिक़ी,जो कभी इबादत हुआ करती थी अब डेसिबल युद्ध की रणभूमि में तब्दील होती जा रही है।'

प्रसिद्ध आलोचक रविभूषण ने लिखा है कि 'अपने समय और समाज की गहरी, बेचैन,मानवीय, नैतिक, रचनात्मक-सृजनात्मक चिंताओं के तहत लिखा गया हमारे समय का एक ज़रूरी उपन्यास है जिसके सरोकार कहीं अधिक व्यापक है।

'गूंगी रुलाई का कोरस' केवल उस्ताद महताबुद्दीन खान की चार पीढ़ियों के कुल सात सदस्यों की पारिवारिक कथा न हो कर, हिंदुस्तान और इस उपमहाद्वीप के साथ विश्व के एक बड़े भूभाग की कथा भी है। यह मौसिक़ी मंज़िल को केवल एक मकान और स्थान के रूप में न देख कर व्यापक अर्थों- संदर्भों में देखता है। हिंदुस्तानी संगीत की विकास-यात्रा, धर्म, सम्प्रदाय, हिंसा की राजनीति,अन्य के प्रति घृणा-विद्वेष, राष्ट्र-राष्ट्रवाद, अख़बार, न्याय-न्यायपालिका, हिंदुत्ववादी ताकतें, पुलिस, ट्रोलर्स, स्पेशल टास्क फोर्स, जाति, धर्म,सोशल मीडिया, अमेरिकी-यूरोपीय नीतियां सब ओर उपन्यासकार की निगाह है। फ़लक व्यापक है।

गूंगी रुलाई का कोरस गहन अध्ययन, श्रम-अध्यवसाय से लिखा गया एक शोधपरक उपन्यास है।साझी संस्कृति और इंसानियत को नये सिरे से रेखांकित करने वाला एक विशिष्ट आख्यान। बंगला भाषा से युक्त इस कृति की भाषा का अपना एक अलग सौंदर्य-रस है। रणेंद्र गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक कंसर्न के उपन्यासकार हैं, उनका 'स्टैंड' साफ है, जिसे समझने के लिए इस कथाकृति को अवश्य पढ़ा जाना चाहिए।'

Rahul Singh - रणेन्द्र ने थाह थाह कर बढ़ते हुए बतौर उपन्यासकार एक विश्वसनीयता अर्जित कर ली है. ऐसी विश्वसनीयता जिसके कारण उनकी अगली रचना को लेकर उत्सुकता और प्रतीक्षा बनी रहती है. अब वे अपने तीसरे उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' के साथ उपस्थित हैं. एक महीने के भीतर पहला संस्करण समाप्त हो गया है. लंबे समय से उन पर लिखने की इच्छा अलग किस्म के व्यस्तताओं के कारण मुल्तवी होती रही है. इस साल वक्त मिला तो इस काम को करना पसंद करूंगा. वैसे एक अनूठी बात से फिलहाल आपको परिचित कराना चाहूंगा. रणेन्द्र की किताबों के आवरण के लिए चित्र भारती जी बनाती हैं, जो उनकी धर्मपत्नी हैं.

इस आपसी साझेदारी का सबसे खूबसूरत पक्ष यह है कि रणेन्द्र की हर कृति के साथ उनके घर में एक पेंटिंग का भी इजाफा हो जाता है. मतलब आप उनके घर को उनकी किताबों की पेंटिंग से संवरा हुआ देख सकते हैं. यह एक दुर्लभ किस्म की सर्जनात्मक यात्रा है, जो एक अर्थ में विरल है. शेष इतना ही कि उनका नवीनतम उपन्यास राजकमल से प्रकाशित है और आप इस उपन्यास को अवश्य पढ़ें.

Comment-

Madhu Kankaria - अपने समय के मिजाज को बहुत सतर्कता और खूबसूरतु के साथ लिखने वाले लेखक हैं रणेन्द्र। उन्हें जल्दी नहीं है, इसलिए बहुत महीन और धीमी आंच पर पका हुआ होता है उनका लेखन।

Kumar Abhinav Swarup - गूँगी रुलाई का कोरस के पात्र एक साझा समाज का निर्माण कर रहे थे, जो अगर विभाजन-प्रेमी ताकतें बीच में न खड़ीं होतीं तो एक विशिष्ट समाज-रचना के रूप में विश्व के सामने आता। हमारे गाँवों, कस्बों और छोटे शहरों में आज भी इसके अवशेष मिल जाते हैं। परम्परा का एक बड़ा हिस्सा तो उसके ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में हमारे पास है ही।

Mukesh Balyogi - रांची में रहकर अनवरत साहित्य साधना में संलग्न रणेंद्र जी का नवीन उपन्यास गूंगी रुलाई का कोरस दो बार पढ़ गया। सच मायने में यह उपन्यास सृजनधर्मिता का महाआख्यान है। रणेंद्र जी कला कला के लिए है या कला आनंद के लिए है की महाबहस से निकालकर इसे आध्यात्मिकता के उच्च सोपान पर ले जाते हैं। जहां कला मुक्तिकामी बन जाती है। यह भौतिक सुखों के पार ले जाकर जन्म, जाति और धर्म के बंधन को भी काटती दिखती है।

राग-रागिनियों के सृजन की बैचैनी शास्त्रीय संगीत को समर्पित चार पीढ़ियों के खानदान को किस मोड़ पर ले जाकर छोड़ देता है, यह अपने आप में विस्मित कर देने वाला है। पूरा उपन्यास ही एक आलाप है जो पाठकों को डेसीबल युद्ध के महासंग्राम से निकालता ही नहीं है बल्कि मानवीय भावनाओं के स्पंदन को आरोह-अवरोह से इस कदर तरंगित करता है कि हम कुछ देर के लिए अपने ही अंतस्तल की गहराइयों में खुद को खोते महसूस होते हैं। जहां निज भावना तिरोहित होने लगती है और शास्त्रीय संगीत की रूहानियत को बचाने की जद्दोजहद में बलिदान होते सदस्यों के बावजूद एक परिवार समष्टिगत कल्याण के भाव पर आंच नहीं आने देता है।

उपन्यास भारत और भारतीयता के उत्स का वह सांगीतिक उत्सव जो हम सबके अवचेतन में रह-रहकर कहीं न कहीं हिलोरे मारता रहता है। उपन्यास की बनावट और बुनावट में रणेंद्र जी ने बांग्ला संस्कृति को इस तरह पिरोया है कि मन बाग-बाग हो उठता है।

3. गूंगी रुलाई का कोरस : रणेन्द्र का उपन्यास ....

बंगाली परिवारों के व्यंजनों की विशेषता का वर्णन इतने मनोयोग से किया है कि लगता है जैसे शब्द अभिव्यंजित होकर अपनी संवेदना को खुशबू के रूप में धीरे-धीरे श्वास नलिका के जरिए शरीर में उतार रहे हैं और तंत्रिकाएं उन्हें जेहन में प्रवेश करा रही हैं। कला से मुग्ध होने की प्रक्रिया को उपन्यास में न्यूरो साइंस के जरिए भी समझाया गया है। संगीत की गहराइयों में उतरने के लिए वाद्य और सुर की इतनी गहन विवेचना की गई है कि मुझ जैसा आंकड़ों की जटिलताओं में उलझा रहने वाला शुष्क व्यक्ति भी कला रसिकों के भाग्य से ईर्ष्या करने लगा है।

उपन्यास में बाऊल और जोगी सांगीतिक आध्यात्मिक परंपरा के दर्शन भी है। जहां भक्त धर्मों की दार्शनिकता और शास्त्रीय जटिलताओं से परे जाकर परमपुरुष के प्रेम और आराधना में मतवाला हो जाता है। फिर छूट जाते हैं कथित संस्कारों के बंधन। केवल अभीष्ट रह जाता है दिल से दिल को जोड़ने की संवेदना का प्रसार। सृजन यात्रा के पथिकों के लिए तो सचमुच ही यह उपन्यास पाथेय है। जहां आप हर क्षण शब्द और ध्वनि के संगम से नाद सृजन के आदि, आवेग और उद्वेग का अहसास कर सकते हैं।

Vishnu Rajgadia - रणेन्द्र का उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' पढ़ रहा हूँ अभी। पहले मुझे लगा कि यह संगीत पर केंद्रित है। लेकिन पढ़कर पता चला कि यह उपन्यास सिर्फ संगीत तक सीमित नहीं है। संगीत की पृष्ठभूमि में देशकाल एवं परिस्थिति का अद्भुत चित्रण है। बहुत अच्छा उपन्यास है यह। दिल और दिमाग पर गहरा असर करने वाला, जिसकी अनुगूंज लंबे समय तक सुनाई देगी। इसे पढ़ते हुए गूंगी रुलाई के कोरस में अपने आंसुओं को भी शरीक पाया। राजकमल प्रकाशन से आया यह उपन्यास अमेजन पर उपलब्ध है।

Manish Pratima - पढ़े तो इसे 9 जनवरी को ही थे। उसके 3-4 दिन पहले ही किताब का विमोचन ही हुआ था और प्रकाशन भी। पाठकीय टिप्पणी लिख थोड़े देर से पाया आलस के कारण। यह संयोग ही है कि स्नातकोत्तर चतुर्थ सत्र में 'समकालीन साहित्य' और 'सूफी साहित्य' दोनों पढ़ना है और हाल में प्रकाशित उपन्यास 'गूँगी रुलाई का कोरस' का इन दोनों विषयवस्तुओं से गहरा संबंध है।

रणेन्द्र सर की यह विशेषता ही है कि वे अपने उपन्यासों में समकालीनता और नवीनता (विषयवस्तु की) का हमेशा मिश्रण करते हैं। इस मिश्रण में मुख्यधारा की राजनीति और इसके समानांतर पैदा हो रहे सांस्कृतिक खतरों की गहरी पड़ताल रहती है। उनकी मुख्य चिंता इन्हीं सांस्कृतिक खतरों को विभिन्न भावबोध के साथ जनता के बीच पहुंचाने की है जिसमें भारतीयता का समन्वयवादी स्वर मुखर है। 'ग्लोबल गाँव का देवता' में उन्होंने 'असुर' समुदाय का मुद्दा उठाया और मुख्यधारा के मानस को सीधे बिना लाग-लपेट किए चुनौती दी।

'गूँगी रुलाई का कोरस' में भी नए विषयवस्तु; संगीत के इतिहास को केंद्र में रखते हुए वर्तमान समय के सांस्कृतिक खतरों को कथाशैली में विश्लेषण किया गया है। रणेन्द्र की यह प्रयोगधर्मिता उन्हें गतिशील बनाता है और अपने को एक खास ढाँचे में कैद होने से बचा लेता है। लेखक की सबसे बड़ी चुनौती यही तो होती है कि खुद को एक ढाँचे में बांधने से बचे।

फिलहाल 2021 में प्रकाशित इस नए उपन्यास पर अपनी पाठकीय टिप्पणी कर रहा हूँ। शीर्षक 'गूँगी रुलाई का कोरस' ही संगीत की ताकत, उसमें छिपे सांस्कृतिक एकता बचाये रखने की पीड़ा,संगीत के बहाने इतिहास में गतिशील अनेकों संस्मरण, स्मृतियों को संजोने के भावबोध और दायित्व से रूबरू कराता है। उपन्यास के शुरुआत में शब्बो भाभी की अम्मीजान रो रही हैं (रोना भी एक संगीत है) और जहाँ उपन्यास खत्म होता है वहाँ शब्बो भाभी की रुलाई संगीत का रूप ले लेती है 'पिया मोरे अनंत देश गैलवा'। यह अंतिम पंक्ति वर्तमान परिस्थितियों के समानांतर संगीतात्मक शंखनाद है जो भारतीयता की पुनः खोज के लिए संघर्षरत और दृढ़ है।

उपन्यास महान भारतीय संगीत परंपरा के बहाने सामूहिकता की खोज है। इस खोज में भक्ति और सूफी आंदोलन इसके प्राणशक्ति बने हैं। भक्ति आंदोलन ने सम्पूर्ण दक्षिण और उत्तर भारत में जाति-पाँति के कारा को तोड़ते हुए समानता और भक्ति पर जोर दिया। पुरोहितवाद, कर्मकांड को नकारते हुए 'भक्ति की मुक्ति' का जयघोष करते हुए भारतीयों में नवीन आत्मविश्वास का संचार किया। इसी बहाने भजन-कीर्तन, नृत्य का बोलबाला हुआ, नए वाद्ययंत्र, सुर, ताल का आगमन हुआ जिसमें क्या हिन्दू, क्या मुस्लिम सब घुलमिलकर एकाकार हो गए। सूफियों ने भी इस्लामिक परम्परावाद को नकारते हुए भारतीयता में रंग गए। औलिया तो 'योगी सिद्ध' भी कहलाये। सुल्तानों से दूरी बनायी।

यही वह दौर था जब गोरखनाथ-भरथरी परंपरा चरम पर थी जिसके अनुयायी हिन्दू भी थे मुस्लिम भी। जो गेरुआ वस्त्र धारण किये कट्टरवाद के मुँह पर कालिख पोतते सामंजस्य की शीतल बयार की तरह भारतवर्ष में फैल गए और बाउल कहलाए। बाउल में बौद्ध, सूफी, वैष्णव सबका समन्वय बना रहा। इसी समन्वय से हिंदुस्तानी संगीत का सोता बह निकला जो निरंतर भारतीय को एकसूत्र में जोड़े हुए है।

आज़ाद भारत में राजनीति और मजहब ने कई बार भारतीयता के मूल ढाँचा विविधता और साझी संस्कृति को लहूलुहान किया है। वैश्वीकरण के बाद से पूँजी के अगाध प्रवाह ने हिंसा के साथ गठजोड़ करके निरंतर साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर देश की आत्मा 'साझी संस्कृति' को छिन्न-भिन्न करके लाभ कमाया है और कमा रही है। अब कोई इंसान को इंसान के नजरिये से नहीं देख रहा है। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी आदि की पहचान प्रमुख होती जा रही है जो बताती है कि सामने वाला हमारा नहीं है। वह अजनबी है जिससे हमें घृणा करनी है। इसके लिए नए-नए मिथक, प्रतीक और झूठ गढ़े जा रहे हैं।

उपन्यास में संवाद है- "यही वह जलेबी जैसा घुमावदार नक्शा था, जिसके चक्कर लगा, हवा बवंडर का रूप अख्तियार करती थी।"

सुआर्यन सेना, बी.बी गुप्ता जैसे लोग जिन्हें हिंदुस्तान के इतिहास और संस्कृति का न 'त' पता है न 'स' वे यह तय कर रहे हैं कि किसे क्या खाना है, क्या पहनना है! वे भारत को शुद्ध करना चाहते हैं। जबकी भारत हमेशा से मिलावटी और बहुवादी संस्कृति का वाहक रहा है। वो किसको शुद्ध करेंगे? माँ शारदा को जिनके रसोई में सभी धर्म-जाति के लोगों के लिए जगह थी। जिसके ममत्व के आगे स्वयं परमहंस नतमस्तक थे। जो एक मुसलमान लड़के के लिए खाना बनाती थीं। क्या वे नरेंद्र (विवेकानंद) को शुद्ध करेंगे जो पखावज बजाने और ध्रुपद गाने में पारंगत थे जिसे वे अहमद खान नाम के उस्ताद से सीखे थे? क्या वे जी.एन बालासुब्रमण्यम को शुद्ध करेंगे जो गुलाम अली खां के भजन सुनकर कदमों में गिर पड़े थे या वाजिद अली शाह को शुद्ध करेंगे जिन्होंने कृष्ण की याद में ठुमरियाँ रची, आक्रमणकारियों से हनुमानगढ़ी को बचाया?

ऐसे अनेक प्रसंग हैं इस उपन्यास में जो यह बताते हैं कि भारतीयता के विकास में शुद्धतावादी विचार घातक हैं। शुद्धतावद एक मिथक है एक फैंटेसी है जो सनक को बढ़ाता है जिसका मंजिल तानाशाही और राजनीतिक सत्ता पाना है। उपन्यास भारतीय संगीत के इतिहास को कथा शैली में गुम्फित करते हुए संगीत और राष्ट्रीय अस्मिता, हिंदुस्तानी तहजीब के मूलसूत्र समावेशन (जो अच्छा है उसे जोड़ते जाना है), संगीत की बारीकियाँ, बौद्धिकता और संगीत के आपसी संबंध, इस्लाम के अंतर्विरोध, नेशन-स्टेट के खतरे, हिंसा के विभिन्न चरण, वैश्वीकरण और मध्य एशिया की राजनीति, गल्फ पॉलिटिक्स पर बारीक चिंतन प्रस्तुत करता है।

उपन्यास का एक सिरा इतिहास में है जिसका प्रतिनिधि मौसीकी मंजिल है जो मुग़ल और राजपूताना शैली के स्थापत्यकला का बेजोड़ नमूना है। इसके छत के नीचे वली दकनी, काजी नज़रुल इस्लाम, बिस्मिल्लाह खान, गोरक्षनाथ, भरथरी परंपरा के प्रसंग और संगीत हैं, शास्त्रीय संगीत में घुसे हुए शुद्धतावाद, अभिजात्यता के प्रति चिंता है, इसे बदलने का प्रयास है। इसका दूसरा सिरा मौसीकी मंजिल के बाहर है जिसमें साम्प्रदायिक हिंसा है, अनाथ बच्चे हैं, उनके मन पर हादसों के मनोवैज्ञानिक असर पर चिंता है, सबकुछ शुद्ध करने की जिद है, मजहब और सियासत में पिसता इंसानियत है, पहचान की राजनीति है जिसे नियंत्रित वैभव और उसके डैडी जैसे पूंजीवादी लोग हैं जिन्हें पहचानने की कोशिश कोई कर नहीं रहा है।

रणेन्द्र सर ने बड़ी बारीकी से तत्ययुगीन भारतीय और वैश्विक घटनाओं को कथाशैली में ढाला है। संवाद में कलात्मकता के साथ भावुकता भी है और गम्भीर चिंतन भी। जैसे बौद्धिकता और संगीत के असर वाले प्रसंग में खुर्शीद कहते हैं:- "संगीत भावनाओं की आशुलिपि है,जो भावनाएँ शब्दों की पकड़ में मुश्किल से आती हैं वे संगीत में सीधे अभिव्यक्त हो जाती है। यही संगीत की शक्ति है।

बुद्धि दिमाग को खुराक देती है। संगीत मन,प्राणों पर असर डालता है। मौसीकी रूह से निकलती है और रूह को ही सुनाती है।"

उपन्यास की भाषा में नवीनता, ताजगी और कवित्व की झलक भी मिलती है। जब होस्टल में शबनम खान गा रही हैं तो देखिये वर्णन शैली:- "खिड़की से झाँकता चाँद सुन रहा था।एड़ियों पर उचक-उचक कर ताकते सितारे सुन रहे थे।नदियों-वनस्पतियों की डाकिया हवा कमरे में आलथी-पालथी मारकर सुन रही थी।"

उपन्यास में बंगाली पृष्टभूमि की बहुत चर्चा है। लेखक ने उसके भाषाई सौम्यता को इतना अपनेपन से प्रस्तुत किया है मानो वे लिखते समय भूल गए हों कि वे लिख रहे हैं। पढ़ते हुए लगता है कि बंगाल के यात्रा पर हों, माँमोनी के रसोई में हों। 'भालो कमोल' की चर्चा जितनी बार आती है मन गुदगुदा जाता है। लेकिन यही भाषा राजनीतिक मसलों पर तल्ख हो जाती है।

जैसे दंगों पर लिखते हुए उनके पात्र की भाषा:- "ये दंगे, ये बलवे, ये कत्लेआम ये सबकुछ उस जमाने की महामारियों की तरह हैं प्लेग, हैजा, चेचक की तरह रह रहकर उभरने वाले। ये बीमारियां बाहरी कारणों से फैलती हैं। साइंस ने उनकी काट खोज ली। किंतु ये जाति-धर्म का अलगाव, कट्टरता, घृणा, हिंसा सब दिमागी कीड़ों के कारण है। न जाने कब इनका इलाज हो!इसी तरह की तल्ख भाषा इस्लामिक अंतर्विरोधों पर भी है। खुर्शीद कहते हैं:- "इस्लामिक भाईचारा आदर्शवादियों का गढ़ा हुआ मिथक है। यहाँ भी वर्ग, श्रेणियां शुरू से रहा है।" उनके विश्लेषण में 1991 के बाद तेल की राजनीति के कारण उभरे इस्लामिक स्टेट की कल्पना का चित्रण बेहद तनावपूर्ण भाषा में है।

उपन्यास का अंत ही एक चिंता से होती है जिसकी भाषा में खीझ, चिंता, बेबसी का मिश्रण है "पहचान की राजनीति केवल घृणा ही पैदा करती है, इन सबको उंगलियों पर नचाने वाला वैभवी-डैडी को कोई पहचानना ही नहीं चाहता"

लेखक की मंशा साफ है कि वह समग्रता में हिंसा की राजनीति को समझना चाहते हैं। वे किसी एक पक्ष की कट्टरता को नहीं दिखाते बल्कि सभी की कट्टरता को रेखांकित करते हुए सबसे बड़े खिलाड़ी 'पूंजीवाद' के हिंसक स्वरूप को पाठक के सामने लाते हैं।

इस तरह संगीत को केंद्र में रखते हुए इतिहास और समकालीन घटनाओं को कथा में पिरोकर लिखा गया यह पिछले दो दशक की सबसे महत्वपूर्ण रचना है। महत्वपूर्ण इसलिए क्योंकि इसका विषय ही अनोखा और प्रयोगधर्मी है। यह उपन्यास हिंदी लेखकों को रचनात्मक बदलाव के लिए (विषयवस्तु के मामले में) प्रेरित तो करती ही है साथ में पाठक से भी इतिहास और संस्कृति के मौलिक ज्ञान की माँग करती है।

Pankaj Mitra - रेणु के जन्मदिन के साथ एक ऐसे हरदिलअज़ीज़ कथाकार का भी जन्मदिन है जिन्हें ग्लोबल गाँव के देवताओं की पहचान है तो गायब होते देश की चिंता भी, अनसुनी आवाज़ों के साथ गूंगी रूलाई का कोरस भी जिन्हें परेशान करता है। हाशिए की आवाज़ को इसी तरह स्वर देते रहने की शुभकामनाएँ भाई रणेन्द्र को...

Jeeteshwari Sahu - हमारे इस भयावह समय का एक मुकम्मल दस्तावेज – "गूंगी रुलाई का कोरस" : रणेंद्र का नवीनतम उपन्यास। इस महादेश को धर्म, जाति और तरह-तरह के भेदभाव तथा साम्प्रदायिक हिंसा से बचाने की कोशिश करने वाला हमारे समय का एक अद्भुत आख्यान है। उपन्यास में हर अध्याय की शुरुआत किसी कवि की कविता, शायरी या किसी ग़ज़ल के टुकड़े से होती है और यह कविता, शेर, ग़ज़ल उस अध्याय की घटनाओं से इस तरह जुड़ी हुई है जैसे लेखक उन शुरू की चंद पंक्तियो से अपनी बात कहने की कोशिश कर रहा हो। हिंदुस्तानी मौसीकी के बहाने रणेंद्र ने हिंदुस्तान की उस अनमोल विरासत को याद किया है , जो कभी हमें अपने संगीत के रागों में इस तरह बांधते चले जाते थे कि हमारे मन में किसी भी दूसरी जाति या धर्म को लेकर घृणा करने का ख्याल भी नहीं आता था।

रणेंद्र का यह उपन्यास एक इबादत है। वे इस महादेश के लोगों को अफीम के समान धर्म के नशे में डूबे हुए देखकर जैसे बेहद दुखी हैं। इस उपन्यास में संगीत के उन महान घरानों को याद किया गया है, जिसने हिंदुस्तानी मौसीकी की दुनिया को आगे बढ़ाया और उसे सात समुंदर के पार पहुंचाया। उपन्यास के प्रमुख पात्रों में बड़े नानू उस्ताद महताबुद्दीन खान की विरासत के सभी लोग शामिल है जिन्होंने अपने जीवन के अंत तक संगीत के रागों को अपनी रूह से अलग नहीं होने दिया।

बड़े नानू उस्ताद महताबुद्दीन खान के दो बच्चे हैं बेटा नानू उस्ताद अय्यूब खान और बेटी शारदा स्वरूपा रागेश्वरी देवी। नानू उस्ताद अय्यूब खान की बेटी है सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी जो शास्त्रीय संगीत की मशहूर गायिका है। सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी के पति है उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी जो आदि गुरु गोरखनाथ के शिष्य हैं। सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी और उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी की विदुषी बेटी के. शबनम है जिन्होंने उस्ताद मदन बाउल के बेटे बाउल कमोल कबीर के संग ब्याह रचाया।

ये सब ऐसे पात्र हैं जिनके रगो में संगीत रक्त की तरह इनके जिस्म में बहता है। शास्त्रीय संगीत में पारंगत ये सभी पात्र अपने-अपने चरित्रों में इस तरह रचे गए हैं जिन्हें काल्पनिक चरित्र कहना मुनासिब नहीं होगा। उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी के चरित्र की खूबी यह है कि वे देश में जब भी दंगे या फसाद होते थे तो वे वहां अपने जैसे फकीर जोगियों के साथ इकतारा लेकर निकल जाया करते थे, बिना अपनी जान की परवाह किए।

इस उपन्यास में हाल ही में हुए पत्रकारों और अंधविश्वास के खिलाफ अलख जगाने वालों की हत्याओं को लेकर भी एक गंभीर चिंतन दिखाई देता है। रणेंद्र ने जिस मेहनत और अध्ययन से हिंदुस्तानी मौसीकी की एक-एक बारीकियों को इस उपन्यास में पिरोया है , उसे केवल इस उपन्यास को पढ़ने के बाद ही जाना जा सकता है। संगीत के साथ इस उपन्यास में अनेक क्षेपक कथाएं भी शामिल हैं जिसमें रामकृष्ण परमहंस, मां शारदा, मां अन्नपूर्णा देवी, कलकत्ता की काली माई, गंगा माई और स्वामी विवेकानंद प्रमुख हैं।

' गूंगी रुलाई का कोरस ' कई अर्थों में हमारे समय की सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास होने का दर्जा रखता है। इस उपन्यास में हमारे देश के उन धार्मिक कट्टर हिन्दू समर्थक संगठनों का बखूबी चित्रण किया है, जो केवल एक धर्म विशेष से नफरत करता है और उसे अपना शिकार बनाता है।

उपन्यास में ऐसे पात्र भी है जिन्होंने संगीत के अलावा प्रेम को तरजीह दी। इस दुनिया से नफरत को मिटाने के लिए जिन्होंने अपने आप को मिटा दिया। ऐसी ही एक पात्र है कालिंदी जिन्होंने अपने धार्मिक पति को छोड़कर भालो कमोल की हत्या हो जाने के बाद उनकी पत्नी के. शबनम के साथ एक नई दुनिया की शुरुआत की। एक ऐसी दुनिया में जिसमें सिर्फ और सिर्फ संगीत के वे राग है जो उन्हें बेहद और बेहद करीब लाने का काम करते हैं।

रणेंद्र ने अपने इस उपन्यास में एक अलौकिक शिल्प और भाषा का संधान किया है। भाषा का ऐसा जादुई राग छेड़ा है, जिसके नशे में हम देर तक डूब-उतरा सकते हैं।

रणेंद्र हमारे इस भयावह समय को लेकर उपन्यास में एक जगह लिखते है - 'ऐसे भयावह समय में मेरी आरजू है कि मेरी आंखों, मेरे सीने में पानी बचा रहे। जहर मेरे अजीज़, मेरे हमदम, हमनवां, हमरंगी पनाह पा सकें। वो नहीं तो उनकी छवि फूल की पंखुड़ियों-सी वहां तिरती रहे। उनके होने की खुशबू मेरे चारों तरफ छाई रहे। उनके साथ - साथ उनकी थोड़ी-सी मौसीकी, थोड़ी-सी गुफ्तगू, थोड़ी खिलखिलाहट, थोड़ी-सी बारिश, थोड़ी-सी धूप, थोड़ी-सी तितलियों की रवानगी भी बची रहे। इस बहाने वे नश्वरता की दहलीज लांघ जाएं। जब तक मेरा यह नाचीज़ जिस्म है, सीने में सांसें हैं, आंखों में आंसू हैं मेरी यह नन्हीं-सी इच्छा तिरती रहे।'

इस सुंदर उपन्यास के किन-किन अध्यायों और बातों की चर्चा करूं। यह पूरा उपन्यास हिंदुस्तानी मौसीकी का, हिंदुस्तान की साझा संस्कृति और समाज का एक भरा पूरा दास्तान है। जिसे चंद लफ्जों में उसकी पूरी सुंदरता के बाद लिख पाना संभव नहीं है।

अच्छा तो यह है कि इस दास्तानें संगीत में आप सब भी गोता लगाए और उन चमकते हुए मोतियों को देर तक अपने भीतर महसूस करे जैसे मैं कर रही हूं।

Comment -

Ramesh Anupam - 'गूंगी रुलाई का कोरस ' के बारे में क्या कहूं यह एक अद्‌भुत और विलक्षण उपन्यास है। आज के भारत को समझने के लिए इस उपन्यास से बेहतर और कुछ नहीं है। सन 2002 से सत्ता हथियाने के लिए सांप्रदायिक शक्तियां जिस तरह से पूरे देश को सांप्रदायिकता की आग में झोंकने में लगी हुई थी, अंततः सन 2014 में केंद्र में सत्ता हथियाने में उनका सफल होना, इस महादेश को गर्त की ओर ले जाना सिद्ध हुआ।

एक विशेष धर्म को टारगेट बनाकर उनके खिलाफ जहर उगलना, दिल्ली में दंगे करवाना, जेएनयू जैसे विश्व के श्रेष्ठ शिक्षा संस्थान को बदनाम करना, इस देश की साझी विरासत को नष्ट करना, पब्लिक सेक्टर को निजी सेक्टर को बेचना इस देश को कहां ले जाएगा इसे हमें सोचना होगा।

रणेंद्र का यह उपन्यास बहुत साहस के साथ आज के भारत की भयावह सच्चाइयों से हमें रु ब रू करवाता है। आज के निरंकुश और तानाशाह शासक के चेहरे से नकाब उतार देता है।

हिंदुस्तानी मौसिकी और बाउल के माध्यम से देश की वास्तविक हालात की जो बदरंग तथा वीभत्स तस्वीर इस उपन्यास में दिखाई गई है, उसे हम सबको देखना चाहिए । यह सचमुच एक अप्रतिम उपन्यास है, जिसे जरूर पढ़ा जाना चाहिए। आपने इस उपन्यास पर लिख कर मेरे दिल के दर्द को काफी हद तक कम कर दिया है

Chandan Tiwari - संगीत की पृष्ठभूमि पर लिखे गये हालिया चर्चित उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' के लेखक और 31 जनवरी को प्रतिष्ठित श्रीलाल शुक्ल इफको साहित्य सम्मान से सम्मानित होनेवाले Ranendra सर और उनकी जीवनसंगिनी, अपनी प्रिय, पेंटिंग आर्टिस्ट Bharti Rajan मैम के साथ आज की खुशनुमा शाम।

प्रो. अमरनाथ, कोलकाता - आज मैंने रणेन्द्र के इस उपन्यास को पढ़कर पूरा किया। उपन्यास ने मन मस्तिष्क पर धाक जमा लिया है। हिन्दुस्तानी संगीत के बहाने भारत की साझा संस्कृति को बेहद रोचक ढंग से चित्रित करने वाला इस विषय पर मेरी दृष्टि में अकेला यह उपन्यास अपनी प्रासंगिकता की दृष्टि से भी बेजोड़ है।

मुझे बराबर लगता रहा है कि सांप्रदायिक ताकतें चाहे देश की जनता में जितना भी जहर घोलें, देश को जितने भी टुकड़ों में बांट दें ,किन्तु हिन्दुस्तानी संगीत के इतिहास को सांप्रदायिकता के आधार पर कभी नहीं बांटा जा सकता। जबतक हिन्दुस्तानी संगीत है, भारत की सामासिक संस्कृति भी अक्षुण्ण बनी रहेगी। रणेन्द्र जी ने अपनी इस कथाकृति में इस सत्य को जिस तरह मौसिकी मंजिल की चार पीढ़ियों की दास्तान के बहाने उजागर किया है, वह बेमिसाल है।

उपन्यास की केन्द्रीय कथा मौसिकी मंजिल से जुड़ी है जो बंगाल के शिउड़ी में है। यह बाउल बहुल क्षेत्र है। किन्तु मौसिकी मंजिल के संगीत का विस्तार बंटवारे से पहले के अखंड भारत अर्थात बंगलादेश से लेकर पाकिस्तान तक है। भारत में भी वली दकनी के मजार के जमींदोज होने और उसपर सड़क बनने की घटना से आरंभ होने वाली कथा शिउड़ी- जुटान तक चलती है। इसमें बाबा गोरखनाथ की परंपरा के जोगियों से लेकर बंगाल के बाउलों तथा संगीत के विविध घरानों से संबंध जोड़कर हिन्दुस्तानी संगीत के बहुआयामी चरित्र, उसकी व्यापकता और महानता का रोचक तथा मार्मिक चित्रण किया गया है। कथाकार की शोध-दृष्टि पूरे उपन्यास में व्यंजित है।

कथा मुख्यतः बंगाल- केन्द्रित है। इसलिए बांग्ला भाषा और उसकी संस्कृति का कथाकार ने जिस तरह चित्र खींचा है, वह अद्भुत है। पठनीयता बेजोड़ है। सांप्रदायिक ध्रुवीकरण का विश्लेषण करते समय उपन्यासकार की दृष्टि सदा अपना संतुलन बनाए रहती है। कच्छप रक्षा सेना तथा सुआर्यन कम्प्यूटर ट्रेनिंग एकैडमी के कारनामों का जिक्र करने के साथ ही उपन्यासकार की दृष्टि इस विषय पर भी है कि," इस्लामी भाई- चारे की बहुत चर्चा होती है। पैन इस्लामिज्म भी बहसों -भाषणों -लेखों में बहुत इस्तेमाल होता है, लेकिन पश्चिम और मध्य एशिया में तो उल्टा ही दिख रहा है। वहाँ तो एक इस्लामी देश ही दूसरे इस्लामी देश को बर्बाद करने पर तुला है।"

पिछले कुछ वर्षों से साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के परिप्रेक्ष्य में यह उपन्यास हर जागरूक नागरिक, खास तौर पर नयी पीढ़ी के लिए अवश्य पठनीय है। पुस्तक राजकमल ने प्रकाशित किया है, 8जनवरी 2021 को पहला संस्करण और 1फरवरी 2021को दूसरा। एक महीने के भीतर ही किसी उपन्यास के दो संस्करण। ऐसा पहली बार देख रहा हूँ। मैं शीघ्र ही इस पुस्तक पर विस्तार से लिखूंगा। यह त्वरित टिप्पणी मात्र है। रणेन्द्र जी को इस महान औपन्यासिक कृति के लिए हार्दिक बधाई।

Raj Verma –

पुस्तक चर्चा : गूँगी रुलाई का कोरस

किताब के बारे में कुछ बताऊँ इससे बेहतर किताब के एक अध्याय को संक्षेप में प्रस्तुत कर देता हूँ , यह अंश किताब की विषय-वस्तु को बेहतर ढंग से बताएगा.

हुदूदे-जात से बाहर निकल के देख ज़रा,

न कोई ग़ैर, न कोई रक़ीब लगता है॥ - सौदा

ड्राईंग रूम में कमोल और कालिन्दी बहुत देर से अकेले बैठे थे कि सामने के दरवाज़े से गुप्ता साहब और अन्दर की ओर से अब्बू एक साथ तशरीफ़ लाये. न जाने अब्बू को कैसे इल्म हुआ कि कमोल और कालिन्दी वहाँ बहुत देर से अकेले हैं और यह तनहाई गुप्ता को खटक सकती है.

अध्याय पोस्ट के हिसाब से लम्बा है सो संक्षेप करने की नियत से बता दूँ कि कमोल बाउल परम्परा का निष्णात गायक है और अब्बू जोगी परम्परा के विख्यात गायक, उस्ताद ख़ुर्शीद शाह जोगी, हैं. कमोल उनका जामाता है और पूरा घराना ही विख्यात संगीतज्ञों का है. कमोल के पिता, मदन बाउल, भी बाउल परम्परा के गायक हैं.

अब्बू के घर का नाम 'मौसिक़ी-मंज़िल', जो अब 'उस्ताद महताबुद्दीन ख़ान संगीत आश्रम' है जहाँ तमाम यतीम बच्चों को आश्रम परम्परा के अनुसार संगीत शिक्षा और कम्प्यूटर सहित अकादमिक शिक्षा भी दी जाती है.

कमोल और कालिन्दी में प्रेम और विवाह होते-होते रह गया जिसकी कसक कालिन्दी में है. कालिन्दी का विवाह गुप्ता जी से हुआ जो एक घाघ व्यापारी हैं, 'सुआर्यन कम्प्यूटर ट्रेनिंग अकादमी' के मालिक हैं जिसकी शाखाएं देश भर में हैं. गुप्ता जी 'राष्ट्रवादी' धर्म और हिन्दुत्व के रक्षक भी हैं. वे अन्य दूरगामी व्यावसायिक उद्देश्यों से पधारे, पूर्वपीठिका के रूप में आश्रम के बच्चों में से कुछ को अपनी अकादमी में फ्री ट्रेनिंग का प्रस्ताव लेकर पधारे.

" ... बात कालिन्दी ने आगे बढ़ाई कि बिजनेस अपनी जगह ठीक ही है, किन्तु हम भी आप लोगों की तरह कुछ पुण्य कमाना चाहते हैं. आश्रम के इन यतीम बच्चों में से सीनियर्स को फ्री कम्प्यूटर ट्रेनिंग देना चाहते हैं ताकि कल इन्हें अपने पैरों पर खड़े होने में थोड़ी मदद मिल सके ... लेकिन ...।

कालिन्दी का यह 'लेकिन' थोड़ा ज़्यादा ही लम्बा खिंच गया तो गुप्ता नें बात की डोर थाम ली, कि एक ट्रस्ट जो हमारी एकेडमी को संचालित करता है वह थोड़ा धार्मिक किसम का है. क्षमा चाहूँगा कि हम आप लोगों की तरह विशाल हृदय-उदार लोग नहीं हैं. हमारे ट्रस्ट के नियम-कायदे थोड़े बँधे-बँधे से हैं. अब कैसे कहूँ ... हमारी शर्त आप लोगों को थोड़ी छोटी-हल्की लग सकती है ... लेकिन हम अपने ही धर्म के बच्चों को एडमिशन देते हैं और फ्री ट्रेनिंग भी उन्हें ही देनें की शर्त से हम बँधे हैं.

ड्राइंग रूम में एकदम सन्नाटा छा गया ... अब्बू की तो जैसे साँसें रुक गई हों. कितना बेशर्म था यह शख़्स ... इसके चेहरे पर तो पश्चाताप का कोई निशान भी नहीं था ...

" ... मैने तो कालिन्दी को पहले ही कहा था कि ट्रस्ट की शर्तें आप लोगों को पसन्द नहीं आएंगी लेकिन इसे ही पुण्य कमाने की बड़ी हड़बड़ी थी. क्षमा कीजिएगा! हमारा उद्देश्य आप लोगों के हृदय को पीड़ा पहुँचाने का कदापि नहीं था. उस बात को भूल जाइए ... कुछ दूसरी बात करते हैं ... ख़ुर्शीद साहब ... आप मुसलमान होकर गेरुआ वस्त्र क्यों पहनते हैं?

... ख़ुर्शीद साहब ... ? कमोल क्या ... लगा पूरा आश्रम ही चौंक पड़ा हो. अब्बू को आज तक किसी ने इस तरह नाम से पुकारा हो, कमोल को याद नही आ रहा था. मौसीक़ी की दुनिया में वे उस्ताद जोगी साहब के नाम से जाने जाते थे...

लेकिन गुप्ता का सवाल दरअसल बदले हुए माहौल का सवाल था जो हज़ार हज़ार बार अलग-अलग जगह जोगियों को घेरकर पूछा जा रहा था. अब्बू को सब ख़बर थी फिर भी वैसे ही मुस्कुराते हुए मुख़ातिब हुए, " लगता है, अपने मुल्क और पाक कल्चर की रवायतों से आप पूरी तरफ वाक़िफ़ नहीं हैं बरख़ुरदार. हम जोगी हैंऔर बेटा कमोल, बाउल. जोगी और बाउल न हिन्दू होते हैं न मुसलमाँ. वे बस जोगी और बाउल ही होते हैं. हम जोगियों के गुरु गोरखनाथ और दादा मछन्दरनाथ नें न पूजा करने से मना किया और न नमाज पढ़ने से. वही सीख बाउलों को लालन शाह फ़क़ीर ने दी...

... अब आप ही तय कर दिजिए कि हम अपने गुरु गोरखनाथ की रवायत का गेरुआ बाना पहनें कि नहीं ... अपना इकतारा बजाते भरथरी के गीत के साथ सुरसती-शिव-विष्णु के भजन गायें कि नहीं ? ... सुरों पर सवारी कर मौला को पुकारें कि नहीं... "

और बातें भी कहीं मगर उनका असर न गुप्ता (व इस मानसिकता के लोगों) पर हुआ, न अब्बू, कमोल और इन जैसों पर. इस अध्याय का अंत यही हुआ कि गुप्ता एकेडमी के उद्घाटन का कार्ड थमा कर आने की औपचारिक प्रार्थना करके चल दिए.

यह एक अध्याय है जिससे किताब की विषय-वस्तु स्पष्ट हो जाती है. संगीत को समर्पित एक घराने की कथा है जो धर्म- समुदाय आदि से परे बस इन्सानियत और संगीत में लीन है तो दूसरी तरफ सभी जगह माहौल बदल रहा है. लोग उनमें कलाकार नहीं हिन्दू-मुसलमान देख रहे हैं. आग दुहू घर लागी है. कुछ हिन्दू और कट्टर हिन्दू हो रहे तो मुसलमान भी और कट्टर होते जा रहे.

उन्हे पसन्द नहीं कि मुसलमान हमारे राम–कृष्ण के गीत गाये, हमारी राग-रागिनियाँ गाये तो मुसलमानों को भी यह नहीं पसन्द, बल्कि कट्टर को तो मुसलमान का गाना-बजाना-नाचना भी गवारा नहीं. यह कट्टरता जान लेकर भी खतम नही होती. घराने के अधिकांश लोग मॉब लिंचिंग में मारे जाते हैं. अब जो हमसे सहमत नहीं या जिसे हम नहीं चाहते – उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं, हम विचार की नहीं उसकी हत्या कर देंगे. कुछ की हत्या होगी ति बाक़ी ऐसे ही सहम कर पाँव खींच लेंगे.

जो स्थिति अब हो रही है, उसका चित्रण इस घराने के माध्यम से किया है.कथा इतिहास और कल्पना का मिश्रण है. भाषा-शैली प्रवाही और प्रभावी है और इससे भी बढ़कर है कि संगीत घराने की दारुण कथा कहने में संगीत परिवेश को अच्छी तरह उभारा है. लगता है हम संगीत गाथा ही पढ़ रहे हैं. राग-रागिनियों, रियाज़, परम्परा, संगीत सम्मेलन ... सब ऐसा कि मानों संगीत सभा में हों या उस घराने में रह कर सब देख-सुन रहे हों.

हर अध्याय के पूर्व किसी शायर, कवि या चिन्तक की पंक्तियां जो अध्याय का सार बताती हैं. संगीत तो है किन्तु मुख्य स्वर बदलता परिवेश, फिज़ा में घुलता ज़हर और असहमति के स्वर के साथ उस

स्वर को उठाने वाले को ही खत्म कर देने की प्रवृत्ति ... बहुत हद इस प्रवृत्ति को बहुसंख्यक, शासन, सत्ता और व्यवस्था का कहीं खुला तो कहीं मौन समर्थन. संवेदनशील विषय को उठाती प्रभावी किताब है. किताब शोधपरक है, इतिहासाधारित है किन्तु बोझिल नहीं. झकझोरने वाली किताब है.

Published in 'Sarthak Samay.com'

https://www.sarthaksamay.com/novel-of-ranendra-gungi-rulayee-ka-koras-shows-indian-joint-culture-19161?fbclid=IwAR1og38XH-glXL5cr8g7xVopvsZAN4rUfnVoOy82eu5qh1RRgrSJXspOsVA

रणेन्द्र के उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' में भारत की साझा संस्कृति

-अमरनाथ

रणेन्द्र के उपन्यास- गूंगी रुलाई का कोरस- को पढ़कर पूरा किया। उपन्यास ने मन मस्तिष्क पर धाक जमा लिया है। इसमें भारत की साझा संस्कृति झलकती है। हिन्दुस्तानी संगीत के बहाने भारत की साझा संस्कृति को बेहद रोचक ढंग से चित्रित करने वाला इस विषय पर मेरी दृष्टि में अकेला यह उपन्यास अपनी प्रासंगिकता की दृष्टि से भी बेजोड़ है।

मुझे बराबर लगता रहा है कि सांप्रदायिक ताकतें चाहे देश की जनता में जितना भी जहर घोलें, देश को जितने भी टुकड़ों में बांट दें, किन्तु हिन्दुस्तानी संगीत के इतिहास को सांप्रदायिकता के आधार पर कभी नहीं बांटा जा सकता। जबतक हिन्दुस्तानी संगीत है, भारत की सामासिक संस्कृति भी अक्षुण्ण बनी रहेगी। रणेन्द्र जी ने अपनी इस कथाकृति में इस सत्य को जिस तरह मौसिकी मंजिल की चार पीढ़ियों की दास्तान के बहाने उजागर किया है, वह बेमिसाल है।

उपन्यास की केन्द्रीय कथा मौसिकी मंजिल से जुड़ी है जो बंगाल के शिउड़ी में है। यह बाउल बहुल क्षेत्र है। किन्तु मौसिकी मंजिल के संगीत का विस्तार बंटवारे के पहले के अखंड भारत अर्थात बंगलादेश से लेकर पाकिस्तान तक है। भारत में भी वली दकनी के मजार के जमींदोज होने और उसपर सड़क बनने की घटना से आरंभ होने वाली कथा शिउड़ी जुटान तक चलती है।

इसमें बाबा गोरखनाथ की परंपरा के जोगियों से लेकर बंगाल के बाउलों तथा संगीत के विविध घरानों से संबंध जोड़कर हिन्दुस्तानी संगीत के बहुआयामी चरित्र, उसकी व्यापकता और महानता का रोचक तथा मार्मिक चित्रण किया गया है। कथाकार की शोध-दृष्टि पूरे उपन्यास में व्यंजित है। कथा मुख्यतः बंगाल केन्द्रित है। इसलिए बांग्ला भाषा और उसकी संस्कृति का कथाकार ने जिस तरह चित्र खींचा है, वह अद्भुत है। पठनीयता बेजोड़ है।

सांप्रदायिक ध्रुवीकरण का विश्लेषण करते समय उपन्यासकार की दृष्टि सदा अपना संतुलन बनाए रहती है। कच्छप रक्षा सेना तथा सुआर्यन कम्प्यूटर ट्रेनिंग एकैडमी के कारनामों का जिक्र करने के

साथ ही उपन्यासकार की दृष्टि इस विषय पर भी है कि, "इस्लामी भाईचारे की बहुत चर्चा होती है। पैन इस्लामिज्म भी बहसों भाषणों लेखों में बहुत इस्तेमाल होता है, लेकिन पश्चिम और मध्य एशिया में तो उल्टा ही दिख रहा है। वहाँ तो एक इस्लामी देश ही दूसरे इस्लामी देश को बर्बाद करने पर तुला है।"

पिछले कुछ वर्षों से साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के परिप्रेक्ष्य में यह उपन्यास हर जागरूक नागरिक, खास तौर पर नयी पीढ़ी के लिए अवश्य पठनीय है।

Published in Newswing.com

https://newswing.com/the-color-of-the-hindustani-culture-of-classical-music-will-be-seen-in-the-chorus-of-gungi-rulai/215378/?fbclid=IwAR2LjtgC88TZ8LD4DTLAki7G9d2TIdfA45J2fPGTy_0LXuNMl5zzoyYbYRM

'गूंगी रूलाई का कोरस' में दिखेगा शास्त्रीय संगीत घराने की हिंदुस्तानी तहजीब का रंग

श्रीलाल शुक्ल स्मृति पुरस्कार के लिए चयनित साहित्यकार **रणेंद्र** से

न्यूजविंग की खास मुलाकात

Ranchi : श्रीलाल शुक्ल स्मृति पुरस्कार के लिए चयनीत लेखक, साहित्यकार और जनजातीय शोध संस्थान के निदेशक रणेंद्र की एक और पुस्तक बाजार में आने को तैयार है. उनकी पुस्तक गूंगी रूलाई का कोरस अगले साल 2021 की जनवरी तक आने की संभावना है.

पुस्तक का विषय अनोखा है- हिंदुस्तानी तहजीब के शास्त्रीय संगीत के घरानों में ऐसे उदाहरण है जहां जाति धर्म के भेद को मिटा दिया गया है. जहां हिंदू-मुसलिम साथ रह रहे हैं- संगीत के लिए. आज के परिवेश में ऐसा ही एक परिवार कैसे इस वजह से मॉब लिंचिंग में फंस जाता है. इस पर यह कहानी है. आज के दौर में जब लिखने और पढ़ने की परंपरा खत्म हो रही है. उसमें रणेंद्र ने अपने लेखन को जारी रखा है. न्यूजविंग से बात करते हुए उन्होंने अपने लेखन और साहित्य से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला. **लेखन का केंद्र आदिवासी, दलित और श्रमजीवी समाज रहा :** रणेंद्र के लेखन के केंद्र मे ज्यादातर आदिवासी, दलित समाज तथा श्रमजीवी वर्ग रहा है. उन्होंने कहा कि आदिवासी, दलितों या श्रमजीवी वर्ग पर मेरा काम या लेखन कोई ओढ़ी हुई चीज नहीं है. बिहार में रहते हुए ही उस वर्ग की पीड़ा और संघर्ष को समझने का मौका मिला था.

15. गूंगी रुलाई का कोरस : रणेन्द्र का उपन्यास ....

जेपी आंदोलन के बाद जब आंदोलन में शामिल लोग सत्ता में आये तब उन्होंने कैसे संपूर्ण क्रांति के नारे को विफल किया. उसकी प्रतिक्रिया में मध्य बिहार में जब कृषक और श्रमजीवी वर्ग से आवाज उठी तो उन्हें दबाने के लिए निजी सेनाओं का उदय हुआ. फिर बिहार में कई नरसंहार हुए. मेरा लेखन तब उन्हीं दबे कुचलों लोगों के लिए था.

पहली पोस्टिंग अनगड़ा बीडीओ के रूप में हुई थी : बिहार से झारखंड के इलाके में ट्रांसफर हुआ तो पहली पोस्टिंग अनगड़ा बीडीओ के रूप में हुई थी. फिर नौकरी करते हुए ही मुझे मौका मिला कि मैं झारखंड के सुदूर इलाकों का भ्रमण कर सका. मैंने यहां के लिखने पढ़ने वालों लोगों से परिचय किया. उनसे सीखता रहा और काम करता रहा.

इंजीनियर बनाना चाहते थे पिताजी पर मैं लेखक ही बना : रणेंद्र कहते हैं कि मैं भाग्यशाली था कि मुझे साहित्यिक परिवेश मिला. पिताजी हिंदी के प्रोफेसर थे. घर पर ही अच्छी लाइब्रेरी थी. अक्सर साहित्यिक गोष्ठियों में जाने का मौका मिलता था. तब मेरी भी रूचि साहित्य के प्रति बढ़ी. पर पिताजी मुझे इंजीनियर बनाना चाहते थे. उनकी इच्छा पर कोचिंग भी की लेकिन मैं इंजीनियर नहीं बन सका. यूपीएससी की तैयारी की. इस दौरान रोमिला थापर और बाकी लेखकों को पढ़ते हुए दुनिया को देखने की एक नयी दृष्टि विकसित हुई. पिताजी साहित्यिक आदमी थे, वे जेपी आंदोलन में जेल भी गये थे. पर शुरूआती दौर में मेरा लेखन उनके विचारों के खिलाफ था. इस पर उन्होंने कभी एतराज भी नहीं किया. इस तरह एक स्वतंत्र दृष्टि विकसित हुई.

https://www.facebook.com/groups/newswingranchi/permalink/681386765769442

16. गूंगी रुलाई का कोरस : रणेन्द्र का उपन्यास ....

VIDEO LINKS

Pragatishil Lekhak Sangh - Facebook Live Link

https://fb.watch/5VxTjkIh77/

https://www.facebook.com/watch/live/?v=747777779441854&ref=search

-----

Samkaleen Janmat - Facebook Live Link

https://www.facebook.com/watch/live/?v=563869344529137&ref=search

Samkaleen Janmat (SECOND) - Facebook Live Link

https://www.facebook.com/watch/live/?v=1432936030371468&ref=search

----

Stri Kaal - Facebook Live Link

https://www.facebook.com/watch/live/?v=1142888242815000&ref=search

----

Dhaga Utsav - Facebook Live Link

https://www.facebook.com/watch/live/?v=207542284383965&ref=search

----

Chandan Tiwari – Vaishana Jan on this occasion

https://www.facebook.com/mahima.shree12/videos/2253414574803503

ट्वीटर में रणेन्द्र जी को फॉलो करने के लिए लिंक

https://twitter.com/RanendraKumar7?s=08

Facebook Link- https://www.facebook.com/ranendrak

Published in 'Pahal'

कैसे आ सकती है ऐसी दिलनशीं दुनिया को मौत : रमेश अनुपम

गूंगी रूलाई का कोरस : रणेन्द्र

'बम-बंदूक-लाशों ने आज तक कोई मसला स्थायी तौर पर हल नहीं किया है। मजहब और सियासत की यह जुगलबंदी यूं ही चलती रही, तो दो-चार देश तो क्या, पूरी इंसानी नस्ल ही खात्में के कगार पर पहुंच जायेगी। इसने हमारे दिलों-दिमाग पर मैल की मोटी परत चढ़ा दी है। इसे धोने के लिए एक साथ कई तरह की कोशिशें करनी होंगी, जिनमें मौसीकी या कोई भी फनकारी, क्रियेटिविटी की भी एक भूमिका होगी। मौसीकी यह काम करती रही है। मजहब की दीवारें इसके सामने टिक नहीं पातीं। इसके कई सबूत हैं मरहूम बड़े गुलाम अली खां साहब बहुत डूब कर मशहूर भजन हरी ॐ तत्सत गाया करते थे। कहते हैं कि उनके पूर्व पुरूष उस्ताद पीर दाद खां साहब को मौसीकी की देवी ने खुद गायन का वरदान दिया था। बहरहाल एक बार खां साहब के इस भजन के गायन से कर्नाटक संगीत के मशहूर गायक पं.जी.एन. बालासुब्रहनण्यम, इतने अभिभूत हुए कि उनके कदमों जा गिरे।'

'लगता है हमारे संगी-साथी, हमारे अजीज़ घरों की गोरैया हो गए हैं। अब हमारा चहचहाना लोगों को नहीं भाता। हर कोई ताली बजाकर उन्हें भगाना चाहता है। एक-एक कर सब गुम होते जा रहे हैं। लेकिन हरेक के गुम होते इस कायनात झील की लहरें कांपती हैं और उनमें से एक लहर मेरी रातों को कंपकंपाती मुझ तक पहुंचती है। फिर मेरी रूह और मेरा इकतारा कांपते रहते हैं। हो सकता है कि गोरैया ने अपनी सारी चहचहाहटें खर्च कर दी हों, सारे गान गा लिए हों। फिर भी किसी दरख्त को उसे आसरा तो देना था। यूं सैयादों के भरोसे तो नहीं छोडऩा था ऐसा क्या हुआ कि हर दरख्त ने अपनी शाखें समेट लीं, सबों की दीद की रोशनियां राख हो गईं। सड़क के दोनों ओर के घरों के दरवाजे-खिड़कियां-रोशनदान सब बंद हो गए और हमारे अजीज़ की अपनी ही पुकार उनके पास लौटकर आती रही...आती रही और सैयाद मुस्कुराता रहा।'

एक ऐसे त्रासद और भयावह समय में जब पूरा देश फासीवाद के सबसे खतरनाक दौर से गुजर रहा है और हम सब धार्मिक कट्टरता और उग्र राष्ट्रवाद के सबसे घातक मंजर को देखने के लिए अभिशप्त हैं, रणेन्द्र का नवीनतम उपन्यास 'गूंगी रूलाई का कोरस' हमारे सबसे बुरे दौर को न केवल साहस के साथ देखने और दिखाने का प्रयत्न करता है वरन् संगीत की तहजीब वाले इस महादेश की साझी संस्कृति को याद दिलाने की कोशिश भी करता है।

रणेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में विलक्षण कथा प्रसंगों तथा विभिन्न चरित्रों के माध्यम से हमारे आज के समय को उसकी पूरी कुरूपता और नग्नता के साथ चित्रित किया है। एक ऐसे मुश्किल दौर में जब अपने समय की साम्प्रदायिक शक्तियों से लडऩे और तथाकथित राष्ट्रवाद का मूंहतोड़ जवाब

देने की कोई सार्थक पहल राजनीति या साहित्य में कहीं नहीं दिखाई दे रही है, रणेन्द्र का यह उपन्यास हमें आश्वस्त करता है, भरोसा दिलाता है कि हिंदी उपन्यास ने अपनी तरह से यह कोशिश प्रारंभ कर दी है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत और बंगाल लोक संगीत के ताने-बाने में बुने गए इस उपन्यास के केन्द्र में बड़े नानू उस्ताद माहताबुद्दीन खान का घराना और 'मौसीकी मंजिल' है। इस संगीत घराने की चार पीढियों के माध्यम से तथा बंगाल की सुप्रसिद्ध लोक संगीत बाउल को आधार बनाकर रणेन्द्र ने हमारे इस धूसर समय के अनेक स्याह और श्वेत बिंबों को, जीवन के आरोह और अवरोह को तथा अनेक खोई हुई स्वर लहरियों को एक सूर में बांधने का उपक्रम किया है।

'गूंगी रूलाई का कोरस' हिंदी का पहला प्रामाणिक उपन्यास है जिसमें संगीत घरानों को और संगीत की बारीकियों को गंभीरता से चित्रित करने का प्रयास किया गया है। यह उपन्यास शास्त्रीय संगीत और बाउल के माध्यम से इस देश की साझी संस्कृति को भी गहरे रूप में रेखांकित करता है। जिस तरह हिंदुस्तानी मौसीकी, भाषा, धर्म और सरहदों की सीमाओं को पार कर समस्त मानव ह्रदय के तारों को एक सूर में झंकृत करने का प्रयास करता है उसे भी रणेन्द्र ने गंभीरता के साथ अपने इस उपन्यास में लक्ष्य करने का प्रयत्न किया है। मार-काट और नफरत से भरे हुए साम्प्रदायिकता के इस बूरे दौर में इस देश को जिस तरह से खत्म करने की सुनियोजित कोशिशें हो रही हैं, उसे भी रणेन्द्र ने बेहद निर्भीकता और पूरी सच्चाई के साथ इस उपन्यास में प्रतिबिंबित किया है।

बड़ो नानू उस्ताद माहताबुद्दीन के दो बच्चे हैं बेटा नानू उस्ताद अय्यूब खान और बेटी शारदा स्वरूपा रागेश्वरी देवी। नानू उस्ताद अय्यूब खान की बेटी है सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी जो स्वयं शास्त्रीय संगीत की मशहूर गायिका है। सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी के पति उस्ताद खुर्शीद जोगी हैं जो आदि गुरू गोरखनाथ के शिष्य हैं। उस्ताद खुर्शीद जोगी की खासियत यह है कि देश में जब भी दंगे या फसाद होते थे वहां अपने जैसे फकीर जोगियों के साथ इकतारा लेकर निकल जाया करते थे। 1965 के गुजरात दंगे, 1976 के दिल्ली के तुर्कमान गेट दंगे और 1984 के सिक्ख विरोधी दंगे में भी इसी तरह वे अपने जान की परवाह किए बगैर अपने जैसे फकीर जोगियों के दल को लेकर निकल गए थे। उस्ताद खुर्शीद जोगी इस उपन्यास के एक विरल और विलक्षण पात्र हैं।

सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी और उस्ताद खुर्शीद जोगी की एक मात्र संतान विदूषी के. शबनम भी शास्त्रीय संगीत की मशहूर शख्सियत हैं। माता-पिता उसे सिम्बायोसिस कॉलेज पूणे में साउंड इंजीनियरिंग की पढ़ाई के लिए भेजते हैं ताकि वह भविष्य में अपने स्वयं की साउंड रिकार्डिंग स्टूडियों खोल सके। लेकिन शबनम की शास्त्रीय संगीत में गहरी अभिरूचि को देखते हुए उसे पूणे के ही गंधर्व महाविद्यालय में मौसीकी की तालीम के लिए भी भेजा जाता है। पूणे में ही शबनम की मुलाकात बाउल कमोल कबीर से होती है जो बीरभूम के सुप्रसिध्द बाउल गायक रोबिन दादू के पौत्र

और उस्ताद मदन बाउल के सुपुत्र हैं। पूणे में रहते हुए शबनम और कमोल एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। संगीत में गहरी दिलचस्पी दोनों को एक सूत्र में जोडऩे का कार्य करती है।

इस उपन्यास में बड़ो नानू उस्ताद मोहताबुद्दीन के जीवन का जो चित्रण किया गया है वह भी अद्भुत है, जो एक रात पैदल स्टीमर और रेल द्वारा किसी तरह कलकत्ता पहुंच गए थे और वह भी दक्षिणेश्वर काली मंदिर। वहां उन्हें गदाई-गदाधर (रामकृष्ण परमहंस) और मांमोनी शारदा अम्मा ने शरण दी थी। इस उपन्यास में रामकृष्ण परमहंस और मां शारदा का जिस तरह से चित्रण किया गया है वह इस देश की विलुप्त होती हुई साझी संस्कृति का विलक्षण उदाहरण ही कहा जाएगा। रामकृष्ण परमहंस और मां शारदा इस मुसलमान बच्चे का जिस तरह से खयाल रखते हैं, जिस तरह से मां शारदा इस बच्चे पर अपनी ममता की वर्षा करती है, वह अतुलनीय है। रामकृष्ण परमहंस और मां शारदा के संबंधों को जिस तरह से इस उपन्यास में चित्रित किया गया है वह भी विरल है।

बड़ो नानू और बड़ो बाबा (उस्ताद अलाउद्दीनखान) को एक दिन जब राजा साहेब के छोटे भाई किरण बाबू के यहां से खाने का निमंत्रण आया तो बड़ो बाबा ने रसोई घर के दीवार पर टंगी हुई मां अन्नपूर्णा की तस्वीर देखी। 'मां..गो...की छोवि! बादाम सी बड़ी-बड़ी आखें! ललाट पर बड़ी सी लाल टिकुली! ‘ दादा ने उन्हीं देवी मां की याद में अपनी सबसे सुंदर बेटी का नाम अन्नपूर्णा रखा। मैहर के सुप्रसिद्ध संगीतकार बाबा अलाउद्दीन खान के बारे में यह सर्वविदित है कि उन्होंने अपनी सबसे सुंदर बेटी का नाम अन्नपूर्णा देवी रखा था। जिसका बाद में सुप्रसिद्ध सितार वादक पंडित रविशंकर के साथ ब्याह हुआ। इस उपन्यास में अन्नपूर्णा देवी की भी कथा को क्षेपक के रूप में उपन्यासकार ने रचा है।

इस उपन्यास में 'सुआर्यन', 'कच्छप रक्षक सेना' तथा 'राष्ट्रवादी छात्रसंघ' जैसे कट्टरपंथी संगठनों की भी विस्तारपूर्वक चर्चा है। ये संगठन धर्म और मजहब के नाम पर पूरे देश में नफरत का जहर फैलाते हुए नजर आते हैं। इन संगठनों को न इस देश की साझी विरासत से कोई मतलब है और न ही इस देश की करोड़ों जनता से। ये केवल नफरत के नाम पर, एक धर्म विशेष के खिलाफ षड्यंत्र रचने का काम करते हैं। इस तरह के सारे संगठन किसी भी देश को फासीवाद के रास्ते पर ही ले जा सकते हैं क्योंकि इनके आदर्श तो कोई हिटलर या मुसोलिनी ही हो सकते हैं। इस तरह के सारे संगठन इस समय हमारे देश में तेजी से फल-फूल रहे हैं, भले ही उनके नाम कुछ हो।

नानू उस्ताद अय्यूब खान को पूणे से संगीत का आमंत्रण मिलता है। नानू को पूणे जाना हमेशा से इसलिए पसंद रहा है क्योंकि वह संगीत की अद्वितीय नगरी तो थी ही साथ ही उनके गहरे मित्र डॉ. माजंरेकर की भी नगरी थी। डॉ. मांजरेकर केवल पूणे के सुप्रसिद्ध चिकित्सक ही नहीं थे वरन् अंधविश्वासी विरोधी संगठन के एक प्रमुख हस्ती भी थे, जो लगातार अंधविश्वास के खिलाफ पूरे महाराष्ट्र में अभियान चलाते रहते थे। पूणे में जब दोनों मित्र सुबह टहलने के लिए निकलते हैं तो

इसी तरह के कट्टरवादी संगठन के लोग उन दोनों की हत्या कर देते हैं। नानू की हत्या इसलिए क्योंकि वे मुस्लिम थे और डॉ. मांजरेकर की इसलिए क्योंकि वे अंधविश्वास विरोधी संगठन के मुखिया थे।

उपन्यास में डॉ. मांजरेकर की जगह डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर को रखकर देखें तो यह सारा वाक्या समझ में आ जायेगा। डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर पूणे में अंधश्रध्दा निमूर्लन समिति के अध्यक्ष थे और कुछ वर्षों पहले उन्हें जानबूझकर कट्टरपंथियों ने अपना निशाना बनाया था। इसी के साथ एम.एम. कल्बुर्गी, गोविन्द पानसरे, गौरी लंकेश की जिस तरह से जघन्य हत्या हुई है यह प्रसंग हमें उसकी याद दिलाता है। यह अकारण नहीं है कि रणेन्द्र ने अपने इस उपन्यास को इन्हीं सबकी पावन स्मृति को समर्पित किया है।

सन् 2014 के बाद देश में सब ओर यही खतरनाक मंजर दिखाई दे रहा है। अगर वे सीधे एक्टिविस्टों, लेखकों-शायरों-अफसानानिगारों की कत्ल नहीं कर पा रहे हैं तो उन पर तरह-तरह के आरोप लगाकर, कानून की अनेक धाराएं लगाकर जेलों में सडऩे के लिए़ छोड़ दिया जा रहा है। वरवरा राव, सुधा भारद्‌वाज, गौतम नवलखा, आनंद तेलतुंबड़े, डॉ. कफील खान, सफूरा जरगर और अभी हाल में ही बैंगलोर की 22 वर्षीया दिशा रवि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। न्यायालयों सहित मीडिया का जो चेहरा दिखाई दे रहा है उसमें न्याय, सच्चाई और विचारों के लिए कहीं कोई जगह अब शायद नहीं रह गई है। मुक्तिबोध ने जो लिखा था 'अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे' अब सच लगने लगा है।

सुआर्यन और कच्छप रक्षक सेना जैसे साम्प्रदायिक संगठन इस उपन्यास में वही काम करते हुए दिखाई दे रहें हैं जो देश में विभिन्न साम्प्रदायिक संगठन इस समय करते हुए दिखाई दे रहे हैं। सुआर्यन और कच्छप रक्षक सेना के लोग अब्बू, कमोल और मयंक के इसलिए खिलाफ हैं क्योंकि उन्होंने विभिन्न धर्म के बेसहारा बच्चों के लिए आश्रम खोला हुआ है। अब्बू ने सन् 1978 में सुंदर वन के दलित निम्नवर्गीय बांग्लादेशी शरणार्थियों के नरसंहार में बचे बच्चों एवं पश्चिम त्रिपुरा जिले के जिरनिया प्रखंड के मन्दई गांव के हादसे से बचे हुए अनाथ बच्चों, सन् 84 के सिक्ख दंगों में बचे सिक्ख बच्चे-बच्चियों, इसी तरह जम्मू के राहत शिविरों से कत्ल हुए पंडित परिवार के बच्चों को एकत्र कर एक आश्रम प्रारंभ किया था जिसमें इन बच्चों के लालन-पालन के साथ मौसीकी का रियाज और पेंटिग्स का अभ्यास करवाया जाता था।

सुआर्यन और कच्छप रक्षक सेना के नवयुवक एक बिल्डर के इशारे पर आश्रम की जमीन को इसलिए खाली करवाना चाहते थे क्योंकि बिल्डर उस जमीन पर एक स्टार होटल बनाने का सपना देख रहा था। जब वे इसमें कामयाब नहीं हो पाये तो उन्होंने इसको साम्प्रदायिक रंग देने का काम किया। चैनल 17 ने इसमें उसकी मदद की, जिसके चलते अब्बू, कमोल और मयंक की गिरफ्तारी हुई।

कोर्ट में वकीलों के एक दल ने उन पर हमला किया। इस उपन्यास में लिखा है जो काम सुआर्यन और कच्छप रक्षक सेना की भीड़ ने नहीं किया, उस काम को कोर्ट की भीड़ ने कामयाब कर दिखाया। यहां थोड़ा रूककर जे.एन.यू. के छात्र नेता कन्हैय्या के साथ कुछ वर्षों पहले जो कुछ हुआ है उसे भी याद कर लेने की जरूरत है।

इसलिए 'गूंगी रूलाई का कोरस' हमारे समय और देश का एक नया रूपक रचने वाला उपन्यास भी है। यह रूपक इतना त्रासद और भयावह है कि यकीन करना मुश्किल हो जाता है कि हम इतने बूरे दौर में जीने के लिए अभिशप्त क्यों हैं यह भी कि यह दौर अभी और किस तरह से इस देश को, इस देश की सभ्यता और संस्कृति को और कितना कलंकित करेगा।

इस उपन्यास में अंतत: अब्बू, कमोल और मयंक को आश्रम के मामले में न्याय तो मिल जाता है पर जिस तरह से उन्हें सुआर्यन, कच्छप रक्षक सेना, चैनल 17 के गठजोड़ के चलते कुछ दिन जेल में बिताना पड़ता है,यह कितना यातनापूर्ण एवं दुर्भाग्यजनक है। इस उपन्यास में साम्प्रदायिक संगठन के साथ मीडिया के गठजोड़ को भी रणेन्द्र ने साहस के साथ चित्रित करने का प्रयास किया है। दरअसल यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी की रणेन्द्र हमारे समय के एक बेहद सजग लेखक हैं। वे ऐसे लेखक हैं जिनके पास एक गंभीरदृष्टि और एक स्पष्ट विचारधारा भी है। इसलिए वे अपने समय के यथार्थ को आर-पार तक देख सकने की हिम्मत ही नहीं रखते हैं वरन् उससे टकराने का हौसला भी रखते हैं। दुर्भाग्य से इस समय हिंदी साहित्य की कथा धारा में रणेन्द्र जैसे लेखक कम ही होंगे।

रणेन्द्र के इस उपन्यास में मुख्य कथा के साथ-साथ अन्य कथाएं भी इस तरह से घटित होती चलती है, जिससे इस देश की साझी संस्कृति और मिली जुली विरासत की कई सुंदर और बदरंग तस्वीर एक साथ दिखाई देती है। इन्हीं तस्वीरों में से एक है बांग्ला के काजी नजरूल इस्लाम की कहानी। काजी नजरूल इस्लाम को बंगाल के एक विद्रोही कवि के रूप में जाना जाता है। उनसे कुमिल्ला की ही 16 वर्षीया प्रोमिला प्रेम करने लग जाती है। प्रोमिला हिंदू है और अल्पवयस्क भी सो विरोध होना लाजमी था। लेकिन प्रोमिला की मां गिरिबाला देवी अपनी बेटी प्रोमिला के साथ खड़ी हो जाती है। काजी नजरूल इस्लाम कुमिल्ला छोड़ देते हैं और प्रोमिला के 18 वर्ष के होने के बाद उससे निकाह कर लेते हैं किंतु प्रोमिला को अपना धर्म छोड़ कर इस्लाम अपनाने के लिए वे कभी मजबूर नहीं करते। काजी नजरूल इस्लाम ने मुल्ला-मौलवी को भी डांट कर भगा दिया था कि प्रोमिला कभी कलमा नहीं पढ़ेगी।

काजी नजरूल इस्लाम के गांव चुरूलिया से ही बाउल कमोल भी संबंध रखते थे। उनके दादू रोबिन बाउल इसी गांव में जन्मे थे उनके पिता मदन बाउल ने भी इस गांव को कभी नहीं छोड़ा। एक ओर शबनम के पिता उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी, जोगी घराने से संबंध रखते थे तो शबनम के पति कमोल बंगाल के सुप्रसिध्द बाउल घराने से। इस उपन्यास में एक जगह उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी, जोगी और

बाउल घराने की चर्चा करते हुए कहते हैं 'हम जोगी है और बेटा कमोल बाउल। जोगी और बाउल न हिंदू होते हैं और न मुसलमां। वे बस जोगी और बाउल ही होते हैं। हम जोगियों के गुरू गोरखनाथ और दादा मछन्दरनाथ ने न पूजा करने से मना किया और न नमाज पढने से। वही सीख बाउलों को लालन शाह फकीर ने दी। दरअसल इबादत के हर दिखावे से हमारे गुरूओं को तकलीफ थी। वे भीतर के रहगुजर के राही और रहनुमा थे। दिल के भीतर शिव और शक्ति को, पांच तत्वों की मौजूदगी को महसूस किया और महसूस करवाया। हम भी भीतर-बाहर भटकते-आवारागर्दी करनेवाले गुरू गोरख के चेले हैं।'

आगे वे यह भी जोडना नहीं भूलते हैं कि 'आजकल हमसे ये सवाल थोड़े ज्यादा ही पूछे जा रहे हैं... कभी मंदिर के दरवाजे पे... कभी मस्जिद की सीढियों पे...। आप नई पीढ़ी के लोग ही मिलकर तय कर दीजिए। हमें तो इस उम्र में कुछ समझ में नहीं आ रहा, हम क्या बदलें...कैसे बदलें कि आप लोगों को अच्छा लगे।' उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी का यह कथन आज के इस खतरनाक दौर में पूछे जा रहे मजहबी सवालों की ओर इंगित करते हैं। जिसमें पहनावे से लेकर, खान-पान को भी निशाना बनाया जा रहा है। आदमी की पहचान उसकी वेशभूषा से की जा रही है। हर आदमी को एक ही ढंग से सोचने और जीने के लिए मजबूर किया जा रहा है। ठीक वैसा ही जैसे नाजी जर्मनी में कभी हिटलर के जमाने में यहूदियों के साथ हुआ था।

इस उपन्यास में रणेन्द्र ने जगह-जगह हिंदुस्तानी मौसीकी की खूबसूरती को चित्रित करने का कोई प्रयास नहीं छोड़ा है। हिंदूस्तानी मौसीकी की जितनी भी बारीकियां हो सकती हैं, जितनी भी खूबियां हो सकती है लगता है रणेन्द्र इस सबसे भली-भांति वाकिफ हैं।वे हिंदुस्स्तानी मौसीकी की न केवल सूरों की हर बारीकियों से वाकिफ हैं वरन् बाउल जैसी लोक संगीत की खूबियों से भी अच्छी तरह परिचित हैं। यही नहीं बंगाल की समृद्ध संस्कृति जो मिठास और खूशबू से भरी हुई है उसके चित्रण में भी वे पूरी तरह पारंगत हैं। बंगाल की संस्कृति वहां का खान-पान,पर्व-महोत्सव, लोक जीवन आदि से लगता है रणेन्द्र का एक लम्बा वास्ता रहा है। इस पूरे उपन्यास को पढ़ते हुए बार-बार हिंदुस्तानी मौसीकी के साथ-साथ बाउल और बंगाल की संस्कृति से पाठकों का साक्षात्कार होता रहता है।

इस उपन्यास में शबनम की मां सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी का अपना एक अलग और विरल चरित्र है। वह नामी गायिका पद्म विभूषण विदूषी रागेश्वरी देवी के नाम से जानी जाती है। सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी ने मौसीकी की दुनिया में अपनी एक अलग पहचान बनाई थी। एक संगीत समारोह में जब सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी को नानू के बिना ही उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी के साथ जाना पड़ा और वहां जिस तरह से उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी ने अपने गायन से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किया उसी दिन रागेश्वरी देवी ने तय कर लिया था कि उसके जीवन में खुर्शीद शाह जोगी के अलावा और कोई नहीं है।

रागेश्वरी देवी के बारे में रणेन्द्र ने शबनम के मुंह से कहलवाया है कि 'नानू यूं ही अपनी रागेश्वरी बिटिया को स्वर हंस पर विचरने वाली गान सरस्वती नहीं कहा करते थे। लेकिन गान-सरस्वती की बुलन्दी तक पहुंचने के लिए अम्मू ने पिछले पांच दशक तक जो रियाज किया था या नानू ने करवाया था वह भी अनोखा था। अठारह-अठारह घंटों का रियाज। सुबह-भैरव, दोपहर-सारंग, ढलती-भीमपलासी, शाम-श्री और रात में दरबारी कांगड़ा।' सूर सरस्वती रागेश्वरी देवी को ऐसे ही पद्म विभूषण जैसी उपाधि प्राप्त नहीं हो गया था।

हिंदुस्तानी मौसीकी में जितने भी बड़े फनकार हुए हैं उन्होंने मौसीकी में अपनी जगह बनाने के लिए इसी तरह के घंटों रियाज किए हैं। रणेन्द्र अपने इस उपन्यास में यह जोडना भी नहीं भूलते हैं कि मौसीकी में कोई शार्ट-कट रास्ता नहीं होता है। एक लम्बे और जी तोड़ परिश्रम के बाद ही कोई फनकार किसी ऊंचाई तक पहुंचता है। चाहे वह बड़े गुलाम अली खां हो या अमीर खां या भीमसेन जोशी जैसे महान संगीतज्ञ। रणेन्द्र ने इस उपन्यास को लिखने से पहले हिंदुस्तानी मौसीकी को लेकर न जाने कितनी तैयारी की होगी, कितना परिश्रम और अध्ययन किया होगा, यह बता पाना मुश्किल है। इस उपन्यास को पढ़ते हुए लगता है मौसीकी उनके रूधिर में बहती है और बंगाल की संस्कृति उनके ह्रदय में धड़कती है।

उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी जो इस उपन्यास के हरफनमौला चरित्र हैं जो धर्म और मजहब से बहुत परे अपने इकतारे के साथ देश में हो रहे दंगों के बाद अपने जैसे फकीरों की टोली के साथ अक्सर पहुंच जाया करते हैं। वे भी कट्टरपंथी संगठनों के निशाने पर आने से बच नहीं पाते हैं। नाम भले ही खुर्शीद शाह हो पर थे तो फकीर ही, जिनका हिंदूओं जैसा चोला था। ईद के दिन मस्जिद की सीढियों के पास मुस्लिम कट्टरपंथी संगठन से जुड़े युवा उनसे उनके धर्म और मजहब के बारे में पूछते हुए, उन्हें अपमानित करते हुए मार डालते हैं।

उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी जैसे फकीर जिनका न कोई धर्म होता है, न कोई मजहब, जिनके लिए ईश्वर और खुदा एक समान होते हैं। जिन्हें मंदिर और मस्जिद की सीढियों पर कोई भेद नजर नहीं आता है, ऐसे ही लोग आज चुन-चुनकर कट्टर पंथियों द्वारा निशाना बनाए जा रहे हैं। जिनकी आज देश में सबसे ज्यादा जरूरत है ऐसे लोगों को ही इस देश से मिटाया जा रहा है। उस्ताद खुर्शीद शाह जोगी के साथ ही लगता है जैसे एक पूरी मानवता की ही हत्या कर दी गई हो। इस उपन्यास में इस तरह के कारूणिक दृश्य मन को विचलित कर देते हैं और हमें सोचने के लिए बाध्य। अगर यह फासीवाद नहीं है तो फासीवाद भला और किसे कहते हैं? यह अंधराष्ट्रवाद नहीं है तो भला अंधराष्ट्रवाद क्या है?

अब्बू के साथ हुए इस हादसे से सभी दुखी हैं। किसी ने सोचा भी नहीं था कि अब्बू जैसे जोगिया फकीर की कोई इस तरह से कभी हत्या करेगा, पर अब देश बदल चुका था, यह कहें तो गलत नहीं

होगा कि इस देश को एक राजनैतिक दल की मंशा के अनुरूप बदला जा रहा था। यह उपन्यास हमें सचेत करता है कि इस महादेश को एक ऐसी अंधेरी सुरंग में ले जाने की कोशिशें हो रही है जिससे यह कभी भी अंधेरी सुरंग से वापस किसी रोशनी में लौट ही न सके। उपन्यासकार रणेन्द्र की यही मूलभूत चिंता है, जिसे वे हम सबकी चिंता में बदल देना चाहते हैं।

कमोल के बाबा जब कोलकाता से वापस अपने गांव शिउड़ी लौट रहे थे तब ट्रेन में उन्होंने जो दृश्य देखा वह देश में धर्म के नाम पर हो रहे नफरत और वैमनस्य को ही प्रदर्शित करता है। 'गूंगी रूलाई का कोरस' में इस दृश्य का जिस तरह से वर्णन किया गया है वह इस समय, इस देश में एक आम दृश्य बन चुका है। तीन दाढ़ी टोपी वाले 18-19 साल के दुबले-पतले लड़कों को 10-12 तगड़े नौजवान घेरे हुए हैं। कोई उनकी टोपियां उछाल रहा है तो कोई उनकी दाढ़ी नोच रहा है। कुछ लोग उनके गालों पर थप्पड़ मारे जा रहे हैं, उन दुबले-पतले लड़कों के नाक और कान से खून लगातार बहने लगा है।

कमोल के बाबा मदन बाउल उन लड़कों को समझाने की कोशिश करते हैं तो लड़के उन्हीं से भिड़ जाते हैं किसी तरह कमोल की मां अपने पति को खींचकर अपने सीट पर बैठाती है ताकि उसकी जान बच सके। उपन्यास में आया हुआ यह दृश्य कोई नया दृश्य नहीं है। सन् 2014 के बाद यह दृश्य हर कहीं आम है। एक विशेष कौम को जानबूझकर निशाना बनाए जाने को शासकीय संरक्षण भी प्राप्त हो चुका है। फासीवाद का इससे बेहतर नमूना और क्या हो सकता है? यह उपन्यास बार-बार हमें याद दिलाने का प्रयत्न करता है कि हम एक ऐसे दौर में जी रहे हैं जो इस देश के इतिहास में अब तक का सबसे कलंकित और वीभत्स दौर है।

इस उपन्यास में कालिन्दी जैसी पात्र भी हैं, जो मन ही मन कमोल से प्रेम करती है। चुरूलिया में एक विवाह समारोह में जिसमें कमोल भी आया हुआ है कालिन्दी की मुलाकात कमोल से हो जाती है। कालिन्दी कमोल के मामी की भतीजी अर्थात् उनके बड़े भाई की बेटी थी, जो कोलकाता के सुप्रसिध्द लोरेटो वीमेन्स कॉलेज की बी.ए. अंग्रेजी आनर्स की छात्रा थी साथ में एन.सी.सी. की कैडर भी। स्वभाव से बहुत तेज और बात-बात में रोष जताने वाली कालिन्दी को कमोल भा गया था। कमोल भी उसकी ओर आकर्षित होने लगा था। यह तब की बात है जब शबनम और कमोल की शादी नहीं हुई थी।

उसी विवाह समारोह में सब लोग कमोल से उनका गाना सुनना चाहते हैं लेकिन कमोल इसके लिए तैयार नहीं है, वह अपनी मां के कहने पर तैयार होता है और गाता है। उसके गाने से जैसे गति सिमट जाती है और ब्रह्मांड घूमर भरने लगता हैं। उनके गायन के दृश्य का वर्णन करते हुए रणेन्द्रभाषा का ऐसा माधुर्य रचते हैं जो अपने-आप में विलक्षण है। जिससे पाठकों का मन उसके आस-पास ही कहीं ठहर सा जाता है 'अनहद आनंद के आंसुओं ने न केवल पुरूष-स्त्री बल्कि गाय-

गोरू, पंछी-पखेरूओं के कोरों को भी गीला कर दिया। नीलाकाश के नौ लाख तारों ने बहुत धीरज रखा, किन्तु अंत में उनके आंसू भी ओस बनकर टपक पड़े। मुझे लगा, अन्तस में एक प्राण नहीं, हजार-हजार प्राण हों और सबके-सब बाहर आने को मचल रहे। परम आनन्द में सबों की आंखें मुंदी थीं। पलकें खुशी का बोझ नहीं उठा पा रही थीं।'

कालिन्दी और उसके परिवार के लाख चाहने के बावजूद बाउल कमोल का ब्याह कालिन्दी के साथ न होकर विदूषी के. शबनम के साथ होता है। कुछ दिनों पश्चात् कालिन्दी भी मि. बी.बी. गुप्ता से ब्याह कर लेती है। कालिन्दी के पति गुप्ता एक ऐसे शख्स है जो नानू के आश्रम को खरीदने में बिल्डर का साथ देते हैं तथा जिनके संबंध कट्टरपंथी संगठनों से भी है। लेकिन कालिन्दी अपने पति से ठीक उलट है। वह बाउल कमोल और आश्रम के बच्चों को दिल से चाहती हैं। वह यह भी चाहती है कि इनमें से किसी का भी कभी कोई अहित न हो। वह हर बार कमोल की सहायता के लिए तत्पर नजर आती है।

कमोल और कालिन्दी जब 'शिउड़ी-जुटान' में भाग लेने के लिए कोलकाता से ट्रेन से शिउड़ी के लिए निकलते हैं तो उसी समय उनके साथ एक दुर्घटना घटित होती है। कमोल जब खाने के लिए अपना टिफिन खोलता है तो वहां बैठे कच्छप रक्षक सेना के युवकों को मौका मिल जाता है। कमोल के टिफिन में कटहल का कोफ्ता है जिसे वे लोग चीख-चीखकर भगवान कच्छप महाराज का गोश्त बताते हैं। वैसे भी फकीराना वेशभूषा और दाढ़ी देखकर कच्छप रक्षक सेना के युवक उसे अधर्मी ही समझ रहे थे और उस पर एक तरह से शुरू से ही नजर लगाए बैठे हुए थे।

कमोल और कालिन्दी के लाख समझाने के बावजूद वे मानने को तैयार नहीं थे कि यह भगवान कच्छप महाराज का गोश्त नहीं है, बल्कि कटहल का कोफ्ता है। कच्छप रक्षक सेना के दरिंदें दोनों को ट्रेन से बाहर पटरियों पर फेंक देते हैं। कालिन्दी तो जैसे-तैसे बच जाती है और उसे कोलकाता के एक बड़े हास्पिटल में भर्ती करवा दिया जाता है। लेकिन कमोल की मौत ट्रेन से नीचे फेंकते ही हो जाती है। यहां कच्छप महाराज की गोश्त की जगह गाय का गोश्त रख दीजिए तो दृश्यपटल एकदम बदल जायेगा। गाय के नाम पर या बीफ के नाम पर सन् 2014 से लेकर अब तक कितने निर्दोष लोग इस देश में मारे गए होंगे इसकी सूची आज किसी के पास नहीं होगी।

कच्छप रक्षक सेना के बारे में रणेन्द्र ने इस उपन्यास में एक जगह विस्तारपूर्वक लिखा है 'भगवान कच्छप के लाकेट वितरण कार्यक्रमों, माननीयों के अनवरत प्रबोधनों एवं बॉलीवुड की सुपर-डुपर हिट फिल्म के बाद कच्छप बाबा केन्द्रित दर्जनों फिल्मों-सीरियल्स के अथक प्रयासों से राष्ट्र का वातावरण निर्मित हो रहा था....अब और नहीं...बस और नहीं...भगवान कच्छप महाराज पर अत्याचार और नहीं। जगह-जगह मछली-वैन, ट्रक, जीप, टोकरियों की जांच में कच्छप रक्षक संघ के जागृत युवा संलग्न हो गए। दुर्घटना से सावधानी भली की तर्ज पर जांच में कच्छप महाराज मिलें या ना मिलें दुष्टों को

दंडित किया जाना अपरिहार्य कर्तव्यों में सम्मिलित था।... यह खास ध्यान रखा कि ऐसे हर एक्शन की वीडियोग्राफी की जाए और उसे सोशल मीडिया पर वायरल किया जाए।'

कमोल की हत्या इसी का दुष्परिणाम था। उसका फकीरों जैसा ताना-बाना और बेतरतीब दाढ़ी उसकी हत्या का कारण बना। इस देश में कच्छप रक्षक सेना और इस तरह के संगठन आज हर जगह फलते-फूलते दिखाई दे रहे हैं। सोशल मीडिया, टी.वी. चैनल, प्रिंट मीडिया ये सब जगह पर कब्जा किए हुए बैठे हुए हैं। मीडिया का हश्र तो यह है कि वे या तो बिक चुके हैं या फिर पतन के कगार पर लोट-पोट हो रहे हैं। इस समय कहीं से भी इन कट्टरपंथी संगठनों के खिलाफ कोई बड़ा या व्यापक प्रतिरोध होता हुआ दिखाई नहीं दे रहा है। आशा की सारी किरणें भी धुंधली सी दिखाई दे रही हैं।

इस सबके बावजूद देश में चारों ओर अमन-चैन नजर आ रहा है। सब अपने-अपने घरों में कैद अपनी छोटी-छोटी खूशियों में डूबे हुए नजर आ रहे हैं। ऐसे समय में यह उपन्यास प्रतिरोध का एक व्यापक परिप्रेक्ष्य निर्मित करने का साहस दिखाता है। हमारी नजरों के सामने जो कुछ भी घट रहा है उसे उसकी पूरी कुरूपता के साथ जस का तस रखने का प्रयास करता है। अपनी तरफ से बिना कुछ अतिरिक्त जोड़े हुए हमारी दृष्टि के धुंधलेपन को साफ करने की कोशिश करता है।

उपन्यास का अंत 'शिउड़ी-जुटान' के आयोजन से होता है। 'शिउड़ी-जुटान' में भले ही भालो बाउल कमोल नहीं पहुंच पाते हैं लेकिन उनके सारे शिष्य दस दिन पहले से ही 'शिउड़ी-जुटान' में एकत्र होने लगते हैं। सबसे पहले दिन कालिन्दी पहुंचती है जो अस्पताल से स्वस्थ होकर अपने घर लौट चुकी थी। घर लौटने के बाद वह अपने पति बी.बी. गुप्ता से तलाक ले लेती है।

वह एकदम नवबोधु के रूप में कमोल दा के घर में पग धरती है। 'एकदम मांमोनी के सपनों वाली बोंग बोधु...केवल सिर पर मांगटीका के ऊपर मुकुट नहीं था और न ललाट पर चन्दन-कुमकुम की सजावट और हां! पान पत्तों की ओट भी मुखड़े के सामने नहीं थी। बाकी सारे के सारे सौभाग्य चिन्ह मौजूद थे। सोलहों श्रृंगार के साथ।'

इधर शबनम भी अपनी बेटी बुलबुल के साथ ससूरबाड़ी पहुंच गई है। बुलबुल तो अपने बाबा बाउल कमोल की अपने आप में पूरी झलक है। नख से शिख तक बातचीत तथा चाल-ढाल में भी कमोल दा की हीझलक उसमें दिखाई दे रही थी। कालिन्दी और शबनम एक-दूसरे को देखकर बच रहे थे। एक-दूसरे से नजर ही नहीं मिला पा रहे थे, फिर अचानक क्या हुआ कि दोनों की आंखें एक साथ डबडबा गई और दोनों की रूलाई रूक ही नहीं पा रही थीं। दोनों की वेदना समान थी। दोनों के लिए भालो कमोल आदर्श थे। कमोल की अनुपस्थिति ने जैसे दो विपरीत नारी हृदयों को आपस में मिला दिया था। अब शबनम पहले की शबनम नहीं रही और कालिन्दी भी अब वही कालिन्दी कहां रही। दोनों के प्राण जैसे एक तत्व में समाहित हो गए थे।

रणेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में कालिन्दी जैसी चरित्र के साथ भी पूरी तरह से न्याय किया है। वह अपने पति को छोड़कर अपने पूर्व प्रेमी कमोल के घर पर यह जानकर भी आई हुई है कि वह जीवन में केवल छली ही गई है। इसके बावजूद कमोल के प्रति उसका प्रेम उसे कमोल के गांव और घर तक खींच कर ले आया है। हिंदी उपन्यास में इस तरह की नारी चरित्र कम ही मिलेंगे। रणेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में कालिन्दी के चरित्र को भी एक अविस्मरणीय चरित्र बना दिया है। प्रेम और त्याग की साक्षात् देवी की तरह कालिन्दी का चरित्र भी एक अद्वितीय चरित्र बन पड़ा है।

बुलबुल अपने साथ दो ट्रकों में मशीनों के बड़े-बड़े बाक्स लेकर आई है। वह नीचे के बड़े हाल में साउंड रिकार्डिंग स्टूडियों खोलना चाहती है। यह अब्बू-बाबा और कमोल का वर्षों का बड़ा सपना था जिसे बुलबुल संभव करने जा रही थी। वही बुलबुल जो उस्ताद माहताबुद्दीन खान के घराने की चौथी पीढ़ी है। इस पीढ़ी ने भी हिंदुस्तानी मौसीकी के प्रति अपनी दीवानगी और मुहब्बत को अपनी रूह में बचाए हुए है। बुलबुल जैसी चरित्र भी इस उपन्यास की एक अहम किरदार है, जिसके बिना शायद यह उपन्यास अधूरा सा प्रतीत होता।

'शिउड़ी-जुटान' के माध्यम से एक बार फिर से बिखरता हुआ परिवार जुड़ता हुआ नजर आता है। उदासी और निराशा उम्मीद की किरणों में बदलती हुई नजर आती है। एक बार फिर लगने लगता है कि उस्ताद माहताबुद्दीन खान और उनका पूरा घराना जीवित हो उठा है। इसी के साथ ही बाउल रोबिन दादू उनके पुत्र मदन बाउल और बाउल कमोल कबीर भी लगता है 'शिउड़ी-जुटान' में साक्षात् शिरकत करने पहुंच गए हैं। फिर से हिंदुस्तानी मौसीकी और बाउल जैसे गले मिल रहे हैं। साझी संस्कृति और हमारी अनमोल विरासत एक बार फिर से धधकती हुई आग से निखर कर चमक उठी है।

यह उपन्यास अपने पूरे कलेवर में एक धधकती हुई आंच है। इस आंच को सह पाना बहुतों के लिए कठिन भी हो सकता है। यह उपन्यास हमारे समय को जिस तरह से देखता है और अपने विन्यास में जगह देता है, यह एक ऐसे विलक्षण उपन्यासकार के लिए ही संभव हैजो अपना सब-कुछ दांव पर लगाकर इस तरह के जोखिम उठाने को तैयार है। इस उपन्यास की रचना आनंद और मजे-मजे की रचना नहीं है, बल्कि स्वयं को आग में जलाकर ही कोई लेखक इस तरह के उपन्यास लिख सकता है, बिना यह सोचे कि इसके परिणाम या दुष्परिणाम क्या होंगे। वैसे कबीर और मुक्तिबोध जैसे कवियों ने भी परिणाम या दुष्परिणाम की चिंता कब की थी।

यह उपन्यास हिंदुस्तानी मौसीकी को लेकर जिस तरह के आख्यान रचता है वह असाधारण है। हिंदुस्तानी मौसीकी के साथ हमारे समय के बेहद कड़वे यथार्थ को मिलाकर रणेन्द्र अपने इस उपन्यास के लिए जिस तरह का रसायन तैयार करते हैं वह हमें चकित ही नहीं करता है वरन् हमारे विचारों को उद्वेलित भी करता है।

रणेन्द्र का यह उपन्यास एक साथ उन बहुत सारी चीजों को अपने दृश्यपटल पर रखने का परिणाम है, जिससे आज यह पूरा देश जूझता और लहुलूहान होता दिखाई दे रहा है।

यह उपन्यास अपनी अद्भुत किस्सागोई में ही नहीं वरन् अपने संपूर्ण विन्यास में भी एक अद्भुत उपन्यास होने की क्षमता रखता है। उपन्यास के हर अध्याय के प्रारंभ में उद्धृत किए गए दोहों, कविताओं, शायरी में हमारे समय की बेहद निर्मम छवि प्रतिबिंबित होती हुई जान पड़ती है। रणेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में अमीर खुसरो, नवारूण भट्टाचार्य, केदारनाथ सिंह, कुंवर नारायण, बहादुर शाह जफर, अली सरदार जाफरी, गोरखनाथ, सौदा, जगन्नाथ आजाद, मजाज लखनवी, अरूण कमल, असद जैदी, अशोक वाजपेयी जैसे कवियों एवं शायरों की पंक्तियों के माध्यम से प्रत्येक अध्याय का प्रारंभ किया है। यह प्रयोग भी इस उपन्यास की कथावस्तु के अनुकूल एक सार्थक और नया प्रयोग है।

अपने इस नवीनतम उपन्यास 'गूंगी रूलाई का कोरस' के माध्यम से स्वयं रणेन्द्र ने अपनी औपन्यासिक सीमाओं का अतिक्रमण किया है। अपने दोनों पूर्ववर्ती उपन्यासों 'ग्लोबल गांव के देवता' तथा 'गायब होता देश' में उन्होंने झारखंड राज्य के आदिवासियों के संघर्ष और प्रतिरोध को दर्ज किया था। इस उपन्यास में कथावस्तु का फलक बहुत व्यापक तथा राष्ट्रीय चुना है। इस तरह उन्होंने अपनी औपन्यासिक यात्रा में एक लम्बी छलांग लगाने का प्रयास किया है, जो किसी भी लेखक के लिए किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि से कम नहीं है।

एक मुद्दत के बाद 'गूंगी रूलाई का कोरस' जैसा उपन्यास हिंदी में आया है जो धार्मिक उन्माद और साम्प्रदायिक दंगों के नर्क में जलते हुए इस लहुलूहान देश की निर्मम और निल्लज तस्वीर को दिखाने का साहस रखता है। यह यकीनन कहा सकता है कि रणेन्द्र का यह नवीनतम उपन्यास इस दशक का श्रेष्ठतम उपन्यास होने का दर्जा तो पायेगा ही, हमारे इस भयावह दौर का अप्रतिम चित्रण करने वाला तथा प्रतिरोध का व्यापक फलक बुनने वाला हमारे समय का एक अद्वितीय उपन्यास भी सिद्ध होगा। हिंदी उपन्यास की सुदीर्घ परंपरा में इस उपन्यास को एक नए प्रस्थान बिंदु के रूप में भी देखे जाने की आवश्यकता है।

मैं पूरी ईमानदारी और निष्ठा के साथ यह भी कह सकता हूं कि 'गूंगी रूलाई का कोरस' जैसा उपन्यास ही हिंदी और हिंदुस्तान को बचा पायेगा। जब यह नफरत और झूठे राष्ट्रवाद का भयावह मंजर थम जायेगा तब हम यकीनन यह कह सकेंगे ऐसे दौर में भी 'गूंगी रूलाई का कोरस' जैसा उपन्यास हमारे पास था।

(पहल के सुपरिचित लेखक)

http://pahalpatrika.com/frontcover/getdatabyid/609?front=53&categoryid=18

गूँगी रुलाई का आख्यान

प्रेमकुमार मणि

रणेन्द्र हिंदी के सुपरिचित कथाकार-उपन्यासकार हैं. 2006 में जब उनका उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' प्रकाशित हुआ, तब एक हलचल हुई और हिंदी पाठकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ. अपने छोटे कलेवर के इस उपन्यास ने असुर आदिवासियों के सवाल को हिंदी समाज के वैचारिक दायरे में ला खड़ा किया था. असुर हमारे साहित्य में हासिये के लोग थे. उनकी धड़कन और जीवन-राग से हिंदी की मुख्यधारा लगभग अपरिचित थी. साहित्य की वैचारिक दुनिया में इससे नए विमर्श का आरम्भ हुआ. द्विजवादी समझ और संस्कारों में पला-बढ़ा हिंदी समाज असुरों के प्रति एक विजातीय अथवा शत्रु-भाव पालता रहा था. उसे जब मालूम हुआ, वे पौराणिक नहीं, इसी समाज के जीवित हिस्सा हैं और सांस्कृतिक रूप से तथाकथित अभिजात तबके से कुछ मामलों में अधिक सुसंस्कृत भी, तब लोग थोड़े अचंभित हुए.

ग्लोबल गाँव के देवता के माध्यम से रणेन्द्र ने असुरों के राजनीतिक और सांस्कृतिक पराभव की त्रासद गाथा लिखी. उनकी विकसित सभ्यता उनके पराभव के आधार बन गए. उनके बर्बर शत्रुओं ने उन्हें निर्ममता से पराजित किया. उनके खेत, नगर और राजपाट सब कुछ झपटते हुए उन्हें जंगलों की तरफ धकेलने लगे. जब जंगल को ही उन लोगों ने अपनी दुनिया बना ली, तब जंगलों को भी अपने कब्जे में लेने लगे. यह सब पुरानी दुनिया से लेकर आधुनिक ज़माने तक में हुआ. बल्कि आज की दुनिया में उन पर हमला जोरदार हो गया है. अंतर यही है कि पहले देवासुर संग्राम होता था, आज ग्रीनहंट होता है. आधुनिक औजारों से सजे पूरे फ़ौज-फाटे उनके 'त्रेता-द्वापर कालीन' पारम्परिक तीर-धनुष के विरुद्ध खड़े हो गए हैं.

फिलहाल तो उनकी स्थिति यह है कि उन्हें गुलाम बनाने की जोरदार तैयारी बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा की जा रही है. आज वह अपने वजूद बचाने का सब से बड़ा संघर्ष कर रहे हैं. बड़ी बात यह है कि उनका संघर्ष पूरी दुनिया में भिन्न -भिन्न रूपों में है. पूरी दुनिया के आदिवासी-मूलनिवासी अपने अस्तित्व-रक्षा का संघर्ष कर रहे हैं. यह उपन्यास आकार में भले ही छोटा था, लेकिन उसने एक सभ्यता-विमर्श को अचानक से हमारे सामने ला खड़ा किया था. यह अनायास नहीं था कि देव-पुत्रों और देवभाषा की पूरी सांस्कृतिक दुनिया एकबारगी कठघरे में बेज़ुबान-सी हो गई थी.

मैंने महसूस किया है 'गूंगी रुलाई का कोरस' उसकी ही अगली कड़ी है. हालांकि इस बीच रणेन्द्र का एक और उपन्यास 'गायब होता देश' भी आया. मैं स्पष्ट करूँ इस उपन्यास ने मुझे कुछ खास आकर्षित नहीं किया था. लेकिन 'गूंगी रुलाई का कोरस' में वे सवाल फिर से मुखर हो जाते हैं, जो 'ग्लोबल गांव का देवता' में उभरे थे. वे तमाम सवाल हमारी सभ्यता से जुड़े सवाल थे.

दुनिया के हर समाज में सभ्यताओं का संघर्ष कम-से-कम दो स्तरों पर चलता है. पहला दूसरों से स्पर्धात्मक संघर्ष चलता है और दूसरा अपने भीतर का ही बदलाव होता है. इसका अर्थ हुआ सभ्यताएं और संस्कृतियां कभी स्थिर नहीं रहतीं; वहां निरंतर मेटाबोलिज्म अथवा चयापचयता जारी रहती है. सभ्यताओं का आधार समाज होता है. विभिन्न समाजों और उनकी सभ्यताओं में थोड़ी भिन्नता होती है. लेकिन समानता के तत्व अधिक होते हैं. कुछ लोगों की दिलचस्पी भिन्नताओं को रेखांकित करने और समानताओं को उपेक्षित करने की होती हैं. भिन्नता को खासियत बनाने की कोशिश होती हैं और फिर बात यहां तक पहुँचती हैं कि हम श्रेष्ठ हैं. इनका संस्कृति-विमर्श यह होता हैं कि उनकी जीवन शैली बाकी लोगों की जीवन शैली से श्रेष्ठ है और केवल इसी शैली के माध्यम से दूसरे भी सुख प्राप्त कर सकते हैं. धीरे-धीरे उनकी इच्छा यह होने लगती हैं कि अपनी जीवन शैली और सोच दूसरों पर किस तरह थोप दी जाये. सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की यह संकल्पना हमें आहिस्ता-आहिस्ता बर्बरता की ओर धकेलने लगती है. फिर एक अंतर-संघर्ष की शुरुआत होती है. यह संघर्ष संघनित होते-होते हिंसक संघर्ष का रूप लेता है. कुछ लोगों को लगता है कि जो 'अन्य' हैं, उन पर वर्चस्व बनाए बगैर हमारा अस्तित्व असुरक्षित होगा. यह भी कि राजनीतिक प्रभुत्व कायम किए बिना सांस्कृतिक वर्चस्व नहीं स्थापित किया जा सकता.

राजनीतिक-सांस्कृतिक वर्चस्व कायम करने का यह स्वप्न अंततः एक कोलाहल को जन्म देता हैं. जो अन्य हैं, उन्हें विजित करने का अभियान चलता है. और सब से पहले विजित की संस्कृति को विनष्ट किया जाता हैं. उन पर विजेता अपनी संस्कृति थोपने की कोशिश करता है. जो झुक जाते हैं, उन्हें विजेता अपनी संस्कृति में समाहित कर लेता है. जो नहीं झुकते, वे बहिष्कृत कर दिए जाते है. अंतर्वेशन और बहिष्करण का एक सिलसिला बनने लगता है और इसके साथ ही सभ्यता के विस्तार के नाम पर एक भयावह विसंस्कृतिकरण की पटकथा आरम्भ हो जाती हैं. दुनिया हारे हुए और जीते हुए, श्रेष्ठ और कमतर, वास्तविक और अवास्तविक, आर्य और अनार्य, देव और असुर, वीर और कायर, देशी और विदेशी आदि-आदि में विभाजित होने लगती हैं. दुनिया केवल दो, या कुछ वर्गों में ही नहीं, अनेक संस्कृतियों और सभ्यताओं में विभाजित मान ली जाती है. 'स्व' और 'अन्य' की सोच विकसित होती है.

दुनिया के दार्शनिकों ने अपने -अपने तरीकों से सभ्यताओं को देखा-समझा हैं, उनकी व्याख्या की हैं. इनकी भिन्नताओं को ज्यादातर ने उनकी विशेषता और सौंदर्य माना हैं. उनका बहुरंगपन माना है. कश्मीर के लोग एक धुन में रहते हैं और केरल के लोग उनसे तनिक भिन्न धुन में. असम और गुजरात के लोग अलग-अलग तरीकों से रहते-जीते है. उनके पहनावे, उनकी बोली बानी, उनके खान-पान और उनकी रुचियों में थोड़ी-थोड़ी भिन्नता होती हैं. लेकिन इसके मायने यह नहीं कि उनमें समानताएं नहीं होती हैं.

दोनों दुःखी होते हैं, खुश भी. जीना-मरना, उदास होना, हँसना-रोना दोनों के यहाँ होता है. पहाड़ और समंदर देख कर दोनों उत्फुल्ल होते हैं. फूल-तितलियाँ, चाँद-तारे, नील गगन और आँखें दोनों को सुहाती हैं. दोनों को भूख लगती है. हिंसा दोनों को ख़राब और प्यार दोनों को अच्छा लगता है. पुरानी दुनिया के दार्शनिकों ने एक ही ईश्वर को जड़-चेतन सब में प्रतिष्ठापित कर सब को एक सूत्र में बाँधने-संवारने की कोशिश की थी. आधुनिक दुनिया के दार्शनिकों ने ईश्वर से भी कहीं महत्वपूर्ण मनुष्य को माना और पूरी दुनिया के लिए एक अभिनव मानवीय नजरिये का प्रतिपादन किया. तकनीक के विकास ने संचार को इतना सुगम बना दिया हैं कि आज पूरी दुनिया एक गाँव के मानिंद है. भिन्नताएं शत्रुता नहीं ,सौंदर्य में तबदील हो गई हैं. एक ही हाट में दुनिया भर के व्यंजन और पहनावे आज सुलभ हैं.

दरअसल सभ्यताओं के इस महायुद्ध में अधिक अच्छे की होड़ तो लगी ही है, उसके समान्तर भिन्नताओं को स्वीकार अथवा अंगीकार करने का उत्साहपूर्ण सिलसिला भी शुरू है. लोगों को एकरंगी दुनिया की जगह बहुरंगी अथवा इंद्रधनुषी दुनिया अधिक पसंद है. एकता की जगह अनेकता के महत्व को रेखांकित करने की कोशिशें जारी हैं. और यह आज से नहीं है. संस्कृति पर गहरे विमर्श करने वाले हिंदी कवि रामधारी सिंह दिनकर ने कहा है -

> अनेकता जहाँ होती है, युद्ध के देवता वहां रोते हैं
>
> दुनिया को एक करने की सनक से युद्ध उत्पन्न होते हैं.

अनेकता को अंगीकार करने, उन्हें सजाने-संवारने की प्रवृत्ति हमारे समाज में स्वाभाविक रूप से रही है. अनेक के बीच एक और एक से अनेक की अवधारणा को हमने उदारता से स्वीकार किया है. कभी रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारत की बुनावट को यूँ रखा था-

> हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़-चीन
>
> शक-हूण-दल , पठान-मोगल एक देहे होलो लीन

आर्य-अनार्य-शक-हूण-पठान-मोगल-द्राविड़-चीन सब एक ही देह में विलीन हो गए हैं. सब मिल कर भारत बन गए हैं. सभ्यता के हजारों सालों में जाने कितनी जातियां-प्रजातियां आईं. सब की कुछ कमियां कुछ खूबियां रही होंगी. सब की खूबियां मिल कर भारत एक महाराग बन गया. एक ऐसी सांस्कृतिक दुनिया जिसके बारे में आधुनिक इकबाल से लेकर प्राचीन संस्कृत कवियों ने सुन्दर पंक्तियाँ लिखीं. जिस भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत बना बताया गया, उसके वृत्त पर कवि कुलगुरु कालिदास ने एक सुन्दर नाटयाख्यान लिखा 'अभिज्ञान शाकुंतलम'.

कौन है भरत? शकुंतला और दुष्यंत के अभिसार से उत्पन्न पुत्र. पूरी कथा अत्यंत कारुणिक है. लेकिन है कुल मिला कर एक वृहत्तर प्रेमकथा. शिकार का शौक पूरा करने जंगल गए राजा दुष्यंत को

कण्व ऋषि के आश्रम में सुकुमारी शकुंतला मिलती है,जो एक ऋषि और अप्सरा के प्रेम का परिणाम है. दुष्यंत पहली नजर में ही उसे अपना दिल दे बैठते हैं. गुपचुप गन्धर्व विवाह होता है और इस उपलक्ष में दुष्यंत शकुंतला को राजमुद्रिका पहनाते हैं. शकुंतला गर्भवती होती हैं. लेकिन जब उन्हें राजा दुष्यंत के पास ले जाया जाता है तो राजा शकुंतला की नहीं, अपनी अंगूठी की खोज करता है. राजा आखिर राजा होता है. बेचारी शकुंतला की अंगूठी नदी पार करते समय नदी में गिर गई थी. वह करे तो क्या करे. अचानक पूरा प्रेम-आख्यान शकुंतला की पीड़ा की कहानी में तब्दील हो जाता है. एक नाटकीय घटनाक्रम में अंगूठी मछुवारे को मिलती है. फिर वह राजा तक पहुँचती है. लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी. आख्यान के आखिर में जंगल में पल रहे भरत से दुष्यंत की मुलाकात होती है और अंततः नाटक सुखान्त को जाता है.

हमारी लोकमान्यता है कि इसी शकुंतला पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत हुआ. यदि यह सच है तो स्वीकार करना होगा, हमारे ऋषियों-दार्शनिकों का नजरिया आज के सामाजिक दार्शनिकों की तुलना में कहीं व्यापक था. संवेदना की एक गहरी पौराणिक अनुगाथा को उन ऋषियों ने ऐसी मान्यता आखिर क्यों दी? यह मनुष्य को रेखांकित करने, उसकी पीड़ा को रेखांकित करने का उनका अपना अंदाज़ था. शायद इसीलिए एक आधुनिक मलयाली लेखक तकषि शिवशंकर पिल्लई ने कहा था भारत को उसके सौंदर्य ने नहीं, उसकी पीड़ा ने गढ़ा है. उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम के आमजन और मिहनतक़श किसानों की पीड़ा समान है. यह पीड़ा ही उनकी ताकत है.

रणेन्द्र - 'गूंगी रुलाई का कोरस' इसी हिंदुस्तान की कहानी को फिर से कहने का एक सांस्कृतिक अनुष्ठान है. लेखक ने अपने आख्यान के ताने-बाने के लिए संगीत के एक घराने को लिया है. यह घराना उस्ताद महताबुद्दीन खान का है जिनकी चार पीढ़ियों की कथा यहां किसी न किसी रूप में गूंथी गई है. घराने का ठौर है, मौसिकी-मंजिल, यानी संगीत का घर, जो पूरे उपन्यास के केंद्र में है.

महताबुद्दीन से लेकर बाउल कमोल कबीर तक एक कहानी फैली-पसरी पड़ी है, जो अत्यंत सधे अंदाज़ में कुछ बड़े सवाल हमारे जेहन में रख जाती है. मौसिकी मंजिल की चार पीढ़ियों की कथा में हिंदुस्तानी संगीत के विकास और उसके सरोकारों की एक झांकी देखी जा सकती है. हिंदुस्तानी संगीत ने कई मंजिलें तय की हैं और इसका इतिहास गौरवपूर्ण है. हमारे मुल्क में संगीतकारों के लिए कोई अनुकूल परिवेश कभी नहीं रहा. संगीत-साधकों ने अनेक मुश्किलों के बीच से अपनी कला को निखारा. उनकी साधना अद्भुत रही है और उन्हें लेकर जाने कितनी किंवदंतियां हैं. महताबुद्दीन घराने की कथा को लेखक ने पूरी निष्ठा के साथ रखा है. उनके खान-पान, बोली-बानी, पहनावे, सरोकार से लेकर जीवन की छोटी-छोटी चीजों को भी लेखक ने अत्यंत सूक्ष्मता के साथ पकड़ने की कोशिश की है. शोधपरक उपन्यासों का मैं पक्षधर नहीं हूँ. इसलिए कि ऐसे उपन्यासों में स्वाभाविकता की जगह विद्वता और परिश्रम हावी हो जाता है, जो मेरी दृष्टि में उचित नहीं है.

शोध कथा-रस को फीका और उपन्यास के समग्र प्रभाव को कमजोर कर देता है. लेकिन इस उपन्यास की विशेषता है कि न इसकी स्वाभाविकता प्रभावित हुई है, न ही यह अतिरिक्त तौर पर बोझिल अनुभव होता है.

उपन्यास मौसिकी मंजिल के धीरे-धीरे उजड़ने की करुण गाथा है. कमोल कबीर की लाश रेल की पटरियों के किनारे पड़ी है. कमोल की पत्नी शबनम, यानी शब्बो भाभी और उनकी अम्मीजान विलाप कर रही हैं. उन्हें पता नहीं चल रहा है कि मौसिकी मंजिल को आखिर किसकी 'नजर' लग गई है. यह परिवार लगातार की विपदाओं से लगभग टूट गया है. 'नानू, अब्बू, फिर कमोल- बाबा, अब कौन?'

रणेन्द्र इस पूरे परिवार के ऐतिह्य को सिलसिलेवार रखते हैं. इस के साथ ही बंगाल में उभरी और फिर उत्तर भारत में आकर निखरी हिंदुस्तानी मौसिकी (मौसिकी फारसी शब्द है, जिसका नाता ग्रीक मुसीका और अंग्रेजी म्यूजिक से है) के पूरे इतिवृत्त को खूबसूरत अंदाज़ में चित्रित करते हैं. बाउल गीतों के बादशाह लालन शाह फ़क़ीर से लेकर संगीत से जुडी जाने कितनी हस्तियां और प्रसंग इस उपन्यास के डिटेल्स हैं. ऐसा लगता है कि हम हिंदुस्तानी संगीत की दुनिया से हो कर गुजर रहे हैं.

किसी भी समाज में राग और संगीत ने आखिर किया क्या है? दरअसल यह आध्यात्मिकता की चरम अभिव्यक्ति है. भारत जैसे देश में जहाँ अनेक किस्म की संस्कृतियां और जीवन-शैली है, संगीत सबको एक दूसरे से जोड़ती है, कम से कम कोशिश तो अवश्य करती है. इसलिए यह एक सांस्कृतिक सेतु का रूप ले लेती है. भारत की निर्मिति आज से नहीं पुराने ज़माने से इन राग-रागिनियों ने ही की है. जहाँ विचार थक जाते हैं, फलसफे बेजान होने लगते हैं, राग मोर्चा संभाल लेते हैं. इसलिए ईश्वर और अनंत की तमाम प्रार्थनाएं संगीतमय हो जाती हैं, अथवा संगीत बन जाती हैं.

इस्लाम के शास्त्रवाद ने संगीत का निषेध किया है. कहते हैं कुरान में संगीत का निषेध है. लेकिन फ्रेंच लेखक गाई सोर्मन की मानें तो सब से बड़ा विद्रोह इस्लाम के भीतर से हुआ और वह संगीत के रूप में हुआ. सूफी संतों की मजारों पर संगीत का एक रूप कव्वाली उसका आधार बन गया. गाई सोर्मन के अनुसार हिंदुस्तान का अस्सी फीसद इस्लाम मस्जिद और कुरान केंद्रित नहीं, मजार और कव्वाली केंद्रित है. इस मौन विद्रोह को समझने की कोशिश शायद ही हुई है .

उपन्यास में वर्णित मौसिकी मंजिल में अपने ही अंदाज़ का एक हिंदुस्तान विकसित हो रहा है. वहाँ मजहबों की रूढ़ियाँ अनुपस्थित है. चंडीदास कहते थे सबसे बड़ा सत्य मनुष्य है, इस के ऊपर कुछ नहीं. मौसिकी मंजिल की ऐसी ही मान्यता है. मनुष्य सब से बड़ा है, और उसके केंद्र में है राग अथवा संगीत, मौसिकी. बंगाल की संस्कृति में पगा पूरा परिवार सूफियाना मनोदशा में जीता है.

"बड़ो नानो का गोप्पो भी आजोब. वली दकनी से शुरू करेंगे तो अपने यार बिस्मिल्ला खान तक पहुँच जाएंगे. वैसे ही बाउलों की बात शुरू करके बीच में जोगियों की कहानी सुनाने लगेंगे. अपनी

भटकन के सिलसिले में ही अब्बू के बाबा सिकंदर शाह जोगी के साथ भी बड़ो नानू उस्ताद महताबुद्दीन खान ने अच्छा-खासा समय गुजारा था. जोगी भी इस पिंड में ही ब्रह्माण्ड की मौजूदगी को मानते. हूबहू मनेर मानुष वाली बात. जात-धरम का भेद यहाँ भी नहीं और जोगियों में भी नहीं. दुनियावी चमक-दमक, धन-संपत्ति से वास्ता यहाँ भी नहीं, वहाँ भी नहीं बाउल एक कदम आगे. यहां जरुरत से ज्यादा पैसे को अच्छा नहीं माना जाता. आमदनी का एक हिस्सा गरीबों में बाँटने का रिवाज. बाउल तो केवल जात-धरम की बराबरी ही नहीं बल्कि धन-संपत्ति की बराबरी का सुन्दर ख्वाब को सँजोए हुए थे." *(उपन्यास के पृष्ठ 56 से एक अंश)*

ऐसे परिवेश में पले-बढ़े परिवार के पात्रों के मन-मिजाज का आकलन सहज ही किया जा सकता है. खानदान की परंपरा है कि इनके लोगों को निजामुद्दीन औलिया और मैहर की शारदा देवी से अपनी तकलीफों की गुहार लगाने में एक तरह का संतोष मिलता था. खुद महताबुद्दीन काली माँ के भक्त थे. उनके घर में पूरे बंगाली धज की हिन्दू बहुएं थीं. मजहब से अधिक तहजीब उनके लिए अर्थपूर्ण था. वे सैंकड़ों साल की विरासत को अपने तरीके से सँवार रहे थे.

लेकिन यहीं से परेशानियां भी शुरू होती हैं. हिन्दू या मुसलमान की जगह हिंदुस्तानी होना इतना आसान भी नहीं है. समय के एक मोड़ पर नया भारत उभरने लगता है. और इसी के साथ गड़बड़ियां भी उभरने लगती हैं. वली दकनी के ध्वस्त किए गए मजार के बगल में संगीत मेले का आयोजन होता है और उसमें दंगा भड़क जाता है. अम्मू इसी समारोह में शॉक्ड होती हैं और फिर कभी स्वस्थ नहीं हो पातीं.

फिर तो पूरे मुल्क में एक नया सिलसिला शुरू होता है. जिस 'डेली एक्सप्रेस' अख़बार में कमोल लिखते थे और जिसके संपादक श्रीवास्तव उनके दोस्त थे, उसी में मौसिकी मंजिल से जुड़े आश्रम की मिलकियत के बारे में एक खबर छपती है, जिस से दोनों में थोड़ी अनबन होती है. खबर छपने के पीछे बी. बी. गुप्ता नामक एक बंदा है, जिसने अख़बार के अधिकांश शेयर खरीद लिए हैं और उसका मालिक बन बैठा है.यही गुप्ता 'सुआर्यन सेना' और कच्छप सेना जैसी जज्बाती संगठन खड़ा करता है, जिसके साथ नौजवान जज्बातियों की एक 'भीड़' है.

कमोल की हत्या के पीछे इसी गुप्ता का हाथ है, इस तथ्य को और कोई नहीं, स्वयं उसकी पत्नी कालिंदी ही स्पष्ट करती है. कालिंदी एक समय कमोल के प्यार में पगी थी. उसने गुप्ता से तलाक़ की पेटिशन दी हुई है और मौसिकी मंजिल से जुड़ कर उसे सँवारने की कोशिश करती है. उपन्यास का अंत सुखद नहीं, तो शुभद अवश्य प्रतीत होता है, क्योंकि तमाम दुखों के बीच भी मौसिकी मंजिल की तीसरी मंजिल की कोठरियां तानपूरे की झंकार से गूंजने लगती हैं. सिउड़ी-जुटान के लिए रियाज जरूरी है. दुःख चाहे जितना सघन हो, मौसिकी को जिन्दा रखने की जिद कायम है.

उपन्यास अनेक स्तरों पर हमें झकझोरता है. वह हमारे समय के सबसे बड़े संकट से हमें रुबरु भी कराता है. पत्रकारिता, संस्कृति और राजनीति किस तरह एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और फिर इकट्ठे हो क्या-क्या किस अंदाज़ में अंजाम दे सकते हैं, इस उपन्यास में देखा जा सकता है. संस्कृति का शाइनबोर्ड लगाकर वर्चस्व और हिंसा की राजनीति की जा रही है, मानो दूध का शाइनबोर्ड लगा कर ताड़ी बेची जा रही हो. कमोल की पत्नी शब्बो या शबनम की समझ में यह बात उभर रही है कि "पहचान की राजनीति केवल घृणा और घृणा को ही जन्म देती है." (आखिरी पृष्ठ) वह यह भी समझती है कि नफरत को नफरत से खत्म नहीं किया जा सकता. इसलिए तमाम विपरीत स्थितियों में भी वह एक बार संगीत को ही पुनर्जीवित करती है.

मैं नहीं जानता हिंदी पाठक इस उपन्यास को किस रूप में ग्रहण करेगा. जैसा कि मैंने आरम्भ में चर्चा की है कि यह आख्यान हमें सभ्यता-विमर्श के लिए उत्तेजित करता है. जिस देश में सांस्कृतिक बहुलता हो, कई तरह की संस्कृतियां हों, वैसे देश में पहचान की राजनीति अंततः एक कोलाहल और गृहयुद्ध को ही जन्म दे सकती है. यह उपन्यास संगीत की महान भारतीय परंपरा के प्रति हमें जिज्ञासु भी बनाता है. उसके प्रति हमारी दिलचस्पी विकसित करता है. उपन्यास की भाषा कथा के अनुरूप तो है ही, बंगला-हिंदी की जुगलबंदी का सौंदर्य भी बिखेरती है.

हाँ, हर अनुखंड का आरम्भ कविता की पंक्तियों से होना कुछ जँचता नहीं है. शायद लेखक अपने उपन्यास को अधिक कलापूर्ण बनाने के प्रयास में अनजाने ही कुछ बोझिल बना देता है. जैसे चाय में अतिरिक्त चीनी उसके आस्वाद को प्रभावित कर देती है, वैसे ही ये कविताएं इस उपन्यास को बोझिल करती अनुभव होती हैं.

हर अनुखंड में इन कविता पंक्तियों का होना एक क्लीशे बन जाता है. काजल के जरूरत से ज्यादा मोटे-गाढ़े डोरे की तरह अप्रासंगिक अथवा गैर-जरूरी. लेकिन कुल मिला कर यह उपन्यास हमारे समय का आवश्यक आख्यान है, जो हमारे लिए कुछ जरूरी सवाल छोड़ जाता है.

http://samalochan.blogspot.com/2021/02/blog-post_53.html?m=1

----

37. गूंगी रुलाई का कोरस : रणेन्द्र का उपन्यास ....

आत्मालोचन का साहस और सृजन की पीठिका

रोहिणी अग्रवाल

परख

"नानू को लगता कि यह कोलतार केवल उस मजार पर नहीं, समूची हिंदुस्तानी तहजीब पर विनानू को यह भी लगता कि कश्मीरी पंडितों की जिलावतनी, साबरमती एक्सप्रेस की जलती बोगियां और नरोदा पाटिया में जलकर कोयला हुए इंसानी जिस्म, सब उस कोलतार को और गाढ़ा करते गए हैं." (पृष्ठ 49)

• यह कोई एक तंजीम या संस्था नहीं, बल्कि एक खास तरह का नजरिया है. खास तरह के ख्याल का सिलसिला जो एक नस्ल और एक ही मजहब के नेशन-स्टेट को मुकम्मल शक्ल देना चाहता रहा है. कुछ-कुछ इस्लामिक देशों की तरह. इनके नेशन स्टेट की तस्वीर में भी गैर मजहबियों के लिए जगह थोड़ी तंग है. साझा तहजीब और मिली-जुली विरासत की बात करने वालों को यह अपना सबसे बड़ा दुश्मन मानते हैं. इन्होंने मजहब और सियासत को फेंटफांट एक बड़ा जहरीला मिक्सचर तैयार किया है. ये अपनी सुविधा से कभी मजहबी, कभी सियासी हो जाते हैं. अपने कट्टर नजरिए की नुक्ताचीनी को देश-मजहब सबकी नुक्ताचीनी साबित कर देते हैं. सारे मजहबों और अलग फिलॉसफी, अलग नजरिए को इज्जत बख्शने की इस देश की पुरानी तहजीब और उसकी रूह को ही गलत साबित करने पर तुले हुए हैं." (पृष्ठ 112)

• दूसरे दिन दूसरे चैनल पर भालो कमोल अपने देश की सब के विचारों-आध्यात्मिक राहों की इज्जत करने की परंपरा को समझा रहा था कि कैसे ईसा पूर्व बौद्ध काल में भी वैदिक धर्म के अलावा कई-कई धार्मिक पंथ और दार्शनिक सक्रिय थे. उसे सब के नाम और उनके दर्शन की विशेषताएं भी कंठस्थ थीं, तीर्थिक, आजीविक, निगंठ, पूरण कस्सप, पकुध कच्चायन, अजित केशकंबली, संजय बेलटिठ्यपुत्र, मक्खलि गोसाल, निगंठ नातपुत्त जो बाद में जैन महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए. स्वाभाविक है कि वैचारिक टकराहटें तो थीं, किंतु एक दूसरे का वजूद मिटाने की नफरत नहीं थी. जिस किसी शासक ने कट्टरता दिखाने की कोशिश की, वह इतिहास में खलनायक की तरह दर्ज हो गया, चाहे वह पुष्यमित्र शुंग हो या शशांक, प्रताप रूद्र देव हो या अलाउद्दीन खिलजी या औरंगजेब. इन्हें इतिहास और आवाम ने कभी इज्जत नहीं बख्शी." (पृष्ठ 157)

सभ्यता बदलाव का मुखौटा पहन लेती है और संस्कृतियां विकास का, लेकिन भीतर सब कुछ वही रहता है—आदिम और बनैला. अपरिवर्तनीय. भूख, महामारी और युद्ध के त्रिक् में घूमता मानव जाति का इतिहास. परिवर्तन ही सत्य होता तो सोलोमन की वे पंक्तियां आज किसी दूर समय की अप्रासंगिक बात लगतीं, लेकिन विडंबना है कि सोलोमन के सुर में सुर मिलाकर कहना पड़ रहा है, हां, ऋतुएं बदलती हैं, फसलें बदलती हैं, जन्म और मृत्यु की डोर में बंधी चर-अचर प्रकृति की बाहरी पहचान/चेहरे भी बदल जाते हैं, लेकिन अंदर से सब वहीं स्थिर है. अपरिवर्तनीय.
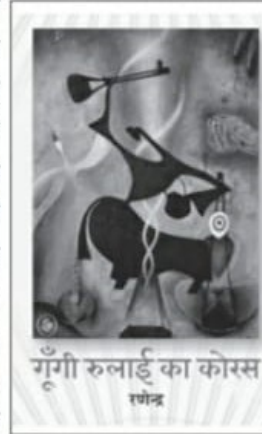
लेकिन 'गूंगी रुलाई का कोरस' उपन्यास पढ़ते हुए मुझे कम से कम यह बात नहीं कहनी चाहिए. उपन्यास हालिया दौर में परिवर्तन की विघटनशील प्रक्रिया के दुष्परिणामों का दुःस्वप्न है जो दुखांतिकी में तब्दील होता है और मानवीय व्याकुलता को चिंतन की अवश्यंभाविता में ढालकर संघटन/पुनर्निर्माण के विकल्पों एवं उपायों पर बात करने की जरूरत को जिंदा रहने का शर्त बना देता है. रणेंद्र उपन्यास को विशुद्ध भारतीय आधारभूमि देते हैं—सांस्कृतिक स्मृतियों से लेकर शास्त्रीय संगीत घरानों की लंबी परंपरा तक, लेकिन मैं हूं कि बाहरी आकृतियों—कुछ नामों, कुछ चरित्रों—को छोड़ घटनाओं और सवालों को वैश्विक परिप्रेक्ष्य देने में आमादा हो गई हूं. क्या हो अगर भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को अमेरिका के नेशन फर्स्ट नारे में अनूदित कर दिया जाए और दोनों को दक्षिणपंथी राजनीतिक चरित्र और विचारधारा की कोटि में डाल दिया जाए? क्या हो कि भारत में अल्पसंख्यक समुदाय की मॉब लिंचिंग को अश्वेत अमेरिकी जॉर्ज फ्लॉयड की हत्या के पीछे छिपी सदियों पुरानी हिंसा, घृणा, दमन और शोषण की परंपरा से जोड़कर समझा जाए? और बेहद शर्म एवं मायूसी के साथ स्वीकारा जाए कि हां, लोकतांत्रिक गरिमा के साथ छेड़छाड़ कर अब हम लोकतंत्र को क्रमशः ध्वस्त करने के महा अभियान में जुट गए हैं. जब कोई

38. गूंगी रुलाई का कोरस : रणेन्द्र का उपन्यास ....

रचना अपनी अनुगूंजों में वृहत्तर मानव समुदाय का क्रंदन घुला मिला ले और चरित्रों को प्रतीक में ढालकर उन्हें स्थायी मनोवृत्तियों का रूप दे दे, तब वह अनायास विशिष्ट हो जाती है. अपनी तमाम दुर्बलताओं के बावजूद रणेंद्र का यह उपन्यास मेरे लिए इस दृष्टि से मानीखेज है कि अपने समय को देखने की तीसरी आंख मुहैया कराता है.

उपन्यास बड़े नानू उस्ताद महताबुद्दीन खान की गायकी की विरासत के बहाने शास्त्रीय संगीत की अमृत-लहरियों के जरिए प्रगाढ़तर होती साझा भारतीय संस्कृति की कथा कहता है जहां सब इंसान और साधक हैं, परंपरा के परिष्कारक और समृद्ध धरोहर के वारिस हैं. हिंदू और मुसलमान होने का अर्थ जुदा धर्म और जुदा संस्कृति के संवाहक होकर एक-दूसरे के सामने प्रतिद्वंद्विता में तनकर खड़ी शत्रुता नहीं है, बल्कि तमाम ऊपरी भिन्नताओं के फर्क को मिटाकर इंसान की यकसां अंतःशक्तियों और सपनों को महसूस करते हुए धर्म की पहचान को ध्वस्त करना है. इसलिए बड़े गुलाम अली खान का हरि ओम तत्सत की टकार के साथ शुरू किया गया गायन, डागर बंधुओं (नसीर अमीनुद्दीन और नसीर मोइनुद्दीन) का 'ब्रह्मा तुम्हीं विष्णु तुम्हीं' का गायन, बड़ो बाबा अलाउद्दीन खान का मां शारदा की आराधना का गान, बाबा बिस्मिल्लाह खान का रोज सवेरे शहनाई के सुर से भगवान शिव को भेजा गया सलाम एक ऐसी साझा हिंदुस्तानी संस्कृति को रचते हैं जो अपनी अंतिम टेक में आस्था के सवाल को व्यक्ति की निजता का चुनाव बता कर सम्मान करना भी जानती है और दूसरे की इंसानियत एवं आस्था को 'दिल के भीतर पांच तत्वों की मौजूदगी में' महसूस भी करती है.

ऊपरी तौर पर भले ही किसी औपन्यासिक रचना का महत्व वस्तु, संवेदना, घटना और चरित्रों के क्रमिक विकास में निहित हो, लेकिन उसकी ऊंचाई को बनाती है बुनियाद में पिरोई गई लेखकीय दृष्टि. वही दृष्टि लेखकीय विवेक बनकर उपन्यास की हर पंक्ति में सांस, ऊर्जा और रौशनी फूंकती है. जाहिर है इस प्रक्रिया में कथा महत्वपूर्ण नहीं रहती, कथा के बहाने उभरने वाले सवाल प्रमुख हो जाते हैं और सवालों के बहाने लेखक का स्वप्नदर्शी संवेदन कि लहूलुहान होने के बावजूद अपने समय की जहालत से जूझते हुए वह कैसे भविष्य का सृजन करने की संभावनाओं को उकेर पाता है. रणेंद्र उपन्यास में आद्यंत इसी चुनौती से जूझते हुए नजर आते हैं इसलिए कथा एवं चरित्रों पर मजबूत पकड़ होने के बावजूद वह समय की धड़कनों की भीतरी तहों में क्रमशः उतरते चलते हैं. ये दरकनें इतनी व्यापक हैं और भीतर-भीतर आपस में इतनी गहरी जुड़ीं कि किसी एक बिंदु पर टिककर बैठना संभव नहीं. मानो सैलाब ने दसों दिशाओं से हमला बोल दिया हो और बाल्टियां लेकर किसी एक ओर से पानी उलीचना मुमकिन न रह गया हो. लेखक देखते हैं कि बी.बी. गुप्ता (राजनीति एवं पूंजीपति ताकतों द्वारा पोषित कठपुतली) जैसी धर्मांध राष्ट्रवादी उग्र हुंकारें 'सुआर्यन राष्ट्र' की स्थापना के स्वप्न में मनुष्य की हत्या कर रही हैं तो तुरंत मदन बाउल और कमोल कबीर की परिकल्पना कर इंसानियत की त्राता मिसाल की रचना कर संदेश देने लगते हैं कि अपने 'मोह-मद पर काबू न रख सके वह भी बाउल (इंसान) क्या?...बाउल के लिए दुख क्या और सुख क्या?" कच्छप रक्षा संघ के बढ़ते राजनीतिक-सांस्कृतिक हौसले यदि देश में अल्पसंख्यक समुदाय को नेस्तनाबूद कर देना चाहते हैं तो प्रतिरोध में ढाका शास्त्रीय महोत्सव के आयोजन की परिकल्पना करते हैं जिसके सांस्कृतिक स्वरूप को गढ़ने में संतों, सूफियों, बाउलों के साथ रवींद्रनाथ टैगोर और नजरुल इस्लाम जैसों की भूमिका से कौन इनकार कर सकता है. "दोनों देशों की अड़तालीस सौ किलोमीटर की साझी सीमा, एक जैसी हवा, एक जैसा जल, धान की धानी चूनर का एक जैसा गगन तक विस्तार, इलिश माछ और रोशोगुल्ला, सैकड़ों सालों का साझा साहित्य, रवींद्र संगीत और नाच...एक अनंत...अंतहीन सिलसिला जिससे फिर से जीने... महसूसने की ललक फिर से जगे. सात दिनों तक...पचपन घंटे शास्त्रीय संगीत गायन सुनने-महसूसने के बाद आत्मा पर पड़ी हुई धूल थोड़ी तो साफ होगी."

लेखक कथा के बीच जगह बनाकर इस सवाल का जायजा भी ले लेना चाहते हैं कि क्यों एक धर्म विशेष को देश ही नहीं, पूरे विश्व में आतंकवाद का पर्याय बना दिया गया है? क्या इस तथ्य से इनकार किया जा सकता है कि जिस समय सदियों तक यूरोप अंधकार युग में गहरे डूब-उतरा रहा था, उस समय वही धर्म विशेष अपनी संस्कृति, वैज्ञानिक प्रगति, कुशल राज्य प्रशासन और कला के सहारे उत्कर्ष पर पहुंचा हुआ था? दरअसल इतिहास लेखन एकांगी ही नहीं होता, वह एक ओर बहुत ज्यादा झुका हुआ भी होता है. वह निःसंग जांच का पारदर्शी लेखा-जोखा नहीं होता, सत्य को रच कर उसे एक ठोस चेहरा देने की राजनीतिक-सांस्कृतिक कोशिश भी होता है. रणेंद्र इस संवेदनशील मुद्दे से टकराने के लिए उपन्यास में दो प्रकरण बुनते हैं. पहले सर पर वह एक रंग में रंगी राष्ट्रीय संस्कृति के पैरोकारों की रुग्ण मानसिकता को उद्घाटित करते हैं जहां साझा संस्कृति जैसी किसी अवधारणा के वजूद से ही इनकार है—"इस राष्ट्र में हमारी एक ही राष्ट्रीय संस्कृति है जो कि सुआर्यन संस्कृति है. इसी के समानांतर हमारी धरती पर विदेशी आक्रांताओं तथा शासकों द्वारा छोड़ी गई संस्कृतियों के भी कुछ टुकड़े बचे हुए हैं. विश्व के अन्य देशों में ऐसी आक्रांता संस्कृतियां अपने धब्बे छोड़ जाती हैं. उससे राष्ट्रीय संस्कृति नष्ट हो कर कोई मिली-जुली संस्कृति नहीं बनती, बल्कि वह आक्रांता संस्कृति सदा एक शत्रु संस्कृति या या परजीवी संस्कृति मानी जाती है. राष्ट्र को निरंतर यह प्रयास करना चाहिए कि उस शत्रु संस्कृति का यथासंभव बहिष्कार करे एवं अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को उससे

कलुषित होने से बचाए." दूसरे स्तर पर वे राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय मीडिया के आत्ममुग्ध भक्त चरित्र पर उंगली उठाते हैं जो यूरोप-अमरीका जैसी महाताकतों के प्रभाव तले तथ्यों की जांच नहीं करते, उनके द्वारा परोसी गई सूचनाओं को ही समय की नब्ज मानने का आसान नुस्खा बनाते हैं. लेखक मानो स्वयं यह कहने कथा में चले आते हैं कि मुस्लिम समुदाय को आतंकवादी घोषित करके शेष विश्व को सहानुभूति देना आसान विकल्प है, लेकिन इस दौरान क्यों नहीं मुसलमानों के बीच फिरकापरस्ती को बढ़ावा देने वाली अमेरिकन-यूरोपियन पॉलिसीज पर बात होती? जिस दिन यह समझ आ जाएगा कि इस्लामिक आतंकवाद भी एक खालिस पॉलिटिकल स्लोगन है, उस दिन "खाड़ी देशों के पेट्रोल कुंओं पर कब्जा करने और अमेरिकी-यूरोपीय देशों की गल्फ पॉलिसीज तय करने में आर्मज इंडस्ट्रीज के चढ़ते-उतरते ग्राफ का सच सबको समझ आ जाएगा. अफगानिस्तान से लेकर सीरिया-यमन तक चल रहा होलोकॉस्ट...कभी न कभी इनकी जिम्मेदारियां तय होंगी...जवाब देना होगा. आज नहीं तो कल."

रणेंद्र की वैचारिक प्रखरता और कनविक्शंस पर दृढ़ता उपन्यास के वैचारिक पक्ष को मजबूत करती है. पूरा उपन्यास मानो समय का बृहद झूला है जो अपनी गतिशीलता में आगे-पीछे होते हुए समय को उसकी ऐतिहासिकता में और सत्य को उसके अंतर्विरोधों से परिपूर्ण विविधता में जान लेना चाहता है. राष्ट्रवादी विचारधारा का दबे पांव चले आना और फिर व्यापक जन समूह का समर्थन पाकर समय का सच बन जाना किसी कद्दावर राजनीतिक नेता का करिश्मा नहीं है. इसके पीछे बहुत से कारण सक्रिय रहते हैं जिन में मोटे तौर पर मनुष्य के भीतर पलती भय और असुरक्षा की मनोवृत्तियां, घृणा और हिंसा की पाशविकता, आत्ममुग्धता और श्रेष्ठता का जातीय अभिमान शामिल है. संस्कृति अपने श्रेष्ठतम रूप में यदि व्यक्ति से उसकी बनैली मनोवृत्तियों को नष्ट कर मनुष्य होने का संस्कार देती है तो निकृष्टतम रूप में कर्मकांड एवं पाखंड में विघटित हो तथाकथित जातीय अस्मिता की रक्षा हेतु द्वेष, घृणा, हिंसा की भावनाओं को भड़काकर विकृतियों का पोषण करती है. संस्कृति की संश्लिष्ट व्यापक यात्रा में संघटन और विघटन दोनों स्वर मौजूद हैं. लेखक अपने दो यादगार चरित्रों अब्बू और कमोल कबीर को जोगी एवं बाउल पहचान देते ही इसलिए हैं कि कर्मकांडी धर्मांधता द्वारा संस्कृति के औदात्य को क्रमशः क्षीणतर करती त्रासदी को उकेर सकें. इसके बाद इंसान के सामने महत्वपूर्ण हो जाती है घेटो कल्चर, अपने भय और उद्धत अहं तथा सुरक्षा कवच/ताबीज की तरह बांधे गए लाउड धार्मिक पहचान-चिह्न जिन्हें त्रिशूल-तिलक से लेकर टोपी-नमाज तक किसी भी रूप में देखा जा सकता है. 'आग से आग नहीं बुझा करती'—लेखक धर्मांध कट्टर पीढ़ी का आह्वान कर उन्हें सतह पर उगती नफरत की फसल काटने की बजाय प्रेम-सहिष्णुता के स्वस्थ बीजों में विषांकुर मिलाने वाली प्रवृत्तियों से सावधान होने की चेतावनी देते हैं. सुआर्यन राष्ट्र संघ के स्वयंसेवक यदि कच्छप रक्षा के उन्माद में लोगों के घरों में बलात् घुसकर फ्रिजों की छानबीन करने लगे हैं, संदेह को अपराध का जामा पहनाकर खुद ही न्यायाधीश बन बैठे हैं, हिंसा और नफरत को द ग्रेट इंडियन कल्चर का पर्याय बनाने लगे हैं, तो इस्लामिक राष्ट्रवाद भी फुंफकारने लगा है. ऐसे में एक अतिवाद के बरक्स दूसरा अतिवाद समस्या को गहराएगा ही. लेखक प्राणपण से पथभ्रष्ट नई पीढ़ी को बताना चाहते हैं कि जोगी और बाउल न हिंदू हैं, न मुसलमान. "वे बस जोगी और बाउल होते हैं. जोगियों के गुरु गोरखनाथ और दादा मछंदरनाथ ने न पूजा करने से मना किया, न नमाज पढ़ने से. वही सीख बाउलों को लालन शाह फकीर ने दी." रणेंद्र बलपूर्वक इस तथ्य को भी रेखांकित करना चाहते हैं कि "सैकड़ों सालों से पूर्वी उत्तर प्रदेश के ढेर सारे मुस्लिम गांवों ने गुरु गोरखनाथ की राह चुनी थी. गेरुआ वस्त्र, इकतारा और गोरखनाथ-भरथरी गीत गाते उत्तर भारत में घूमते रहना." ऐसे में अपने ही आंगन में पलकर जवान होती पीढ़ी कट्टर मुसलमान बनकर जोगिया पहनावे को हिंदुत्व के साथ जोड़ दे और बाउल साधकों को निखालिस मुस्लिम हो जाने की नसीहत दे तो जीने का चाव कहां बचता है जिंदगी में? "नई उम्र के लोग हमें समझते नहीं. मोबाइल-यूट्यूब या इंटरनेट पर किन्हीं इस्लामिक स्टेट, जैश-ए-मोहम्मद और न जाने कौन-कौन-सी जमातों की तकरीरें सुन-सुनकर मुसलमान लड़कों की त्योरियां चढ़ी रहती हैं कि हम मुसलमान होकर जोगिया रंग के कपड़े क्यों पहनते हैं. दूसरी तरफ कच्छप रक्षा संघ जैसे संगठनों के लड़कों को भी हमारे गेरुआ बाने पर सख्त ऐतराज है."

रणेंद्र उपन्यास को बेहद अर्थ व्यंजक शीर्षक देकर अपने समय की विकरालता को पूरी इंटेंसिटी के साथ प्रस्तुत कर देना चाहते हैं. इसलिए वे नई उगती ट्रोल संस्कृति से लेकर अतिरिक्त भाव से सक्रिय भू-माफिया की आपराधिक हरकतों को भी कथा में पिरोते हैं तो कंप्यूटर अकैडमी चलाने के बहाने ज्ञान को सूचना और सूचना को फेक न्यूज में ढाल दिए जाने के पीछे सक्रिय षड्यंत्रों को पकड़ लेना चाहते हैं. बाजार का प्रादुर्भाव विश्लेषण की धीरता को खबर के चटपटेपन में रिड्यूस कर रहा है तो नौकरी यानी आजीविका का मतलब बाजार के इशारों पर नाचने वाला बंदर होना भर रह गया है. बाजार चेतना का आखेटक ही नहीं है, वह कला एवं संस्कृति का भी हत्यारा है, और मजे की बात यह है कि उद्धारक होने का बाना पहनकर वह मनुष्यता के संधान की पर्याय कला-संस्कृति को अराजक, मनुष्य- विरोधी एवं संवेदनशून्य बनाता जा रहा है. बाउल संगीत के वृहद सरोकारों और गहन मानवीय अपील को बाह्याचारों (प्रतीक) में ढाल देना दरअसल उस महान परंपरा का मजाक उड़ाना ही है. फ्यूजन संस्कृति भदेस भाव से नए को पुराने में ठूंसना नहीं है, नए और पुराने के सह

अस्तित्व, संगति, समन्वय और स्पेस को बरकरार रखते हुए बहुलतावादी स्वरों की रक्षा करना है. शबनम कबीर खान के 'द सिस्टरहुड' मंच के जरिए लेखक संगीत में फ्यूजन यानी प्रयोगधर्मिता को सकारात्मक सृजनशील आयाम देने की कोशिश करते हैं जहां धर्म, वर्ग, वर्ण एवं भूगोल की सीमा के परे बड़ों नानू के घराने की सात बेटियां गायन, तबला, पखावज, सितार, बांसुरी, वायलिन और कत्थक नृत्य के जरिए कला का इंद्रधनुष पेश करती हैं. ऐसा इंद्रधनुष जो दुनिया के हर आसमान में अपने उसी नूर, उसी आकार और रंगीनियों के उसी क्रम में दिखता है. "क्या हिंदुस्तान, क्या पाकिस्तान और क्या बांग्लादेश हर जगह के गवैये वही सुर अलातते हैं, वही राग गाते हैं और यह साबित करते हैं कि हम बुनियादी तौर पर एक ही धागे से बंधे हैं."

गौरतलब यह भी है कि रणेंद्र 'गूंगी रुलाई' को शब्द नहीं, सक्रियता देते हैं, आंसू भरी आंखों में सपने देखने और साकार करने की तासीर भरते हैं. उपन्यास का अंत मिलन के मेलोड्रामाटिक दृश्य की तरह बेशक रोमानी और अविश्वसनीय लगे लेकिन जब बदसूरत सच्चाइयां दिन-ब-दिन खौफनाक और अकल्पनीय होती जा रही हों तब कल्पना के घोड़े दौड़ा कर क्यों नहीं यूटोपिआई समय को खोज-बांध कर लाया जाए? यूटोपिया सदैव 'नो व्हेअर' - कहीं नहीं - की स्थिति में नहीं रहता. उसमें अपना हृदय-कंपन मिला दो, सपनों के मुट्ठी भर बीज उंड़ेल दो, पसीने की नदियां बहा दो और फावड़ा-कुदाल लेकर अपने ही सख्त अहं और बेढब जिद की मिट्टी को भुरभुरा बनाकर छितरा दो तो कैसे यूटोपिया हकीकत नहीं बनता? यूटोपिया से परहेज दरअसल संघर्ष और स्वप्न दोनों को गूंथ कर एक लय कर देने की सृजनात्मक क्षमता का दूसरा नाम है. समय यदि एक सर्वग्रासी लहर बनकर सब कुछ सुंदर, शिव, सत्य निगलता जा रहा है तो अपनी बारी की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धर कर बैठना कहां तक उचित है? प्रतिशोध में ऊर्जा जाया करने की बजाय प्रतिरोध को अस्त्र और दिशा बना कर चलना दरअसल सपनों का पीछा करना है. रणेंद्र लुप्त होती कला-संस्कृति, संवेदन-संबंधों और मनुष्यता को बचाने का बीड़ा उठाते हैं. क्रूरताएं स्वप्न-पंखुरी सरीखे एक भालो कमोल कबीर को निगल लेती हैं तो प्रतिरोध में गूंगी रुलाइयों में हौसलों के अंगारे भरकर स्वप्न को मिशन बनाती कई कई पंखुरियां जुट जाती हैं—शबनम के खान, बुलबुल और कालिंदी. कहना न होगा कि संघर्ष के माथे पर ताज की तरह चढ़ा आशावाद उपन्यास की ताकत है.

पुनश्च : अलबत्ता उपन्यास के क्राफ्ट को लेकर एक बात विचारणीय है कि गंभीर सरोकारों के समानांतर उपन्यास में रोचकता एवं प्रवाहपरकता की जगह कितनी हो? इन दिनों जिस तरह उपन्यास उत्तरोत्तर बोझिल, कष्ट साध्य एवं अपठनीय होते जा रहे हैं, उससे कहीं यह ध्वनित होता है कि शोध और बौद्धिक बहसों की लाउडनेस को लेखक घुला-मिलाकर खून-ऑक्सीजन नहीं बना पाते हैं. 'गूंगी रुलाई का कोरस' उपन्यास का पूर्वार्ध घटनाओं के अतिरेक और संबंधों के मकड़जाल को समझने की मशक्कत में कटता है तो उत्तरार्ध लेखक की बौद्धिक बहसों में अपने सुर को मिला सकने की सहमति और अश्वशक्ति में. एक कालजयी रचना बौद्धिक बहस और विचारधारा को पात्रों के अंतस् के बौद्धिक उजास का रूप देती है और उस क्रम में उनकी संवेदनात्मक वैयक्तिकता को भी उसी सघनता और रागात्मकता के साथ उद्घाटित करती है. हवा की तरह लेखक का कण-कण में मौजूद होकर भी दृश्य-पटल से गायब रहना रचना को बड़ा बनाता है. 'गूंगी रुलाई का कोरस' उपन्यास इन अपेक्षाओं पर भले ही थोड़ा फिसल जाता है लेकिन अपने समय से साक्षात्कार की अनिवार्य बेचैनी पाठक में पैदा करता है.

❐

पुस्तक : गूंगी रुलाई का कोरस
लेखक : रणेन्द्र
प्रकाशन : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : 250.00

संपर्क : 258, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी रोहतक-124001 (हरियाणा)

← हंस TP मई 2021.pdf

41. गूंगी रुलाई का कोरस : रणेन्द्र का उपन्यास ....